ओ३म्

राष्ट्र-निर्माण में गुरुकुल का स्थान

(प्रथम भाग)

लेखक

श्री मुनि देवराज जी विद्या वाचस्पति

प्रकाशक

वैदिक साहित्य पुस्तकालय

गुरुकुल झज्जर (जि० रोहतक)

प्रथमावृत्ति २००० | सं० २०११ वि० दयानन्दाब्द १३० | मूल्य ॥)

राष्ट्र-निर्माण में गुरुकुल का स्थान

(गुरुकुल के सम्बन्ध मे चार प्रश्नों के उत्तर)

प्रश्न (१) गुरुकुल क्या है ?

प्रश्न—(२) गुरुकुल का उद्देश्य क्या है ?

प्रश्न—(३) गुरुकुल आश्रम-जीवन का लक्ष्य क्या है ?

प्रश्न—(४) वर्तमान काल में किसी के आगे हाथ पसारे विना गुरुकुल कैसे चलाया जा सकता है ?

प्रश्न—(१) गुरुकुल क्या है ?

उत्तर—'कुल' शब्द का अर्थ है 'घर'। गुरुकुल शब्द का अर्थ हुआ गुरु का घर। गुरुकुल में अर्थात् गुरु के घर में ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) भिन्न प्रकार का शिक्षण प्राप्त करने के लिये गुरु के पास निवास करते हैं, तब गुरु उनका उपनयन करके अपने पास उन्हें रखने को उद्यत होता है।

गुरु के लिये दूसरा शब्द आचार्य है। गुरु का अर्थ तो इतना ही है कि जो छात्र को उपदेश करे वह गुरु (गृणाति शब्दमुपदिशति यः स गुरुः)। आचार्य

शब्द का अर्थ होता है जो समस्त पदार्थों का ज्ञान करावे, और सदाचार की शिक्षा दे. अथवा विद्यार्थी को सदाचारी रहने का अभ्यास करावे। (आचार्यः कस्मात्-आचिनोत्यर्थान् आचारं ग्राहयतीति च) समस्त पदार्थों का ज्ञान कराना यह क्रियात्मक शिक्षा द्योतक है। पदार्थ स्वरूप से भी विद्यार्थी के सामने उपस्थित किये जाते हैं और उनकी निर्माण प्रक्रिया भी विद्यार्थियों से पदार्थ-निर्माण कराकर सिखलाई जाती है। इस प्रकार ब्रह्मचारी को ब्रह्म अर्थात् सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में सिद्धहस्त किया जाता है। सृष्टि निर्माण प्रक्रिया में सिद्धहस्त विद्यार्थी वास्तव में ब्रह्मचारी बन जाता है। ज्ञान और कर्म में निपुण होने के लिये, संकल्प करके जो विद्यार्थी अपने आप को गुरु व आचार्य के समर्पण कर देता है उसे आचार्य अपने पास लेता हुआ उसका उपनयन करता है। और उसके तीनों प्रकार के अज्ञान को दूर करता है। सृष्टि कैसे चल रही है, इसका ज्ञान (आधिदैविक ज्ञान) कराकर पहिला अज्ञान दूर करता है। सृष्टि के नियमों के आधार पर समाज और शरीर का निर्माण और निर्वाह किस प्रकार पारस्परिक सहयोग से हो रहा है, इसका ज्ञान कराकर (आधिभौतिक ज्ञान) विद्यार्थी के दूसरे अज्ञान को दूर करता है। तथा सम्पूर्ण रचना में चैतन्य तत्त्व और उसकी

सहवर्तिनी शक्तियाँ किस प्रकार कार्य कर रही हैं, इसका ज्ञान (अध्यात्मिक ज्ञान) कराकर विद्यार्थी के तीसरे अज्ञान को दूर करता है। यह तीन अज्ञान तीन रात्रि हैं। पूर्वोक्त तीन प्रकार की अज्ञान रात्रियों को दूर करने के लिये जिज्ञासु विद्यार्थी को आचार्य अपने घर में (गृह में = गर्भ में) इस प्रकार सुरक्षित रखता है, जिस प्रकार बालक को माता अपने गर्भ में सुरक्षित रखती है। आचार्य ब्रह्मचारी बालक को सब प्रकार से सम्पन्न करता है। वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा है—"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥"

(अथर्व०. का० ११ सू० ५ मं० ३)

गुरुकुल में रहता हुआ ब्रह्मचारी शरीर, मन बुद्धि, आत्मा की सम्पूर्ण योग्यताओं से सम्पन्न हो जाता है। तब उसे देखने के लिये, अर्थात् उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिये राष्ट्र के विद्वान् लोग गुरुकुल में इकट्ठे होते हैं; ऐसी वेद की आज्ञा है। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मचारी का अपने शिक्षण-काल में गुरुकुल से बाहर जाना अर्थात् सामान्य जन-सम्पर्क में रहना वेद को अभीष्ट नहीं है। यदि ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से गुरुकुल से बाहर जाना अभीष्ट ही हो तो आचार्य वा आचार्य के सदृश किसी विद्वान्

कर्मकुशल मनुष्य के निरीक्षण में ब्रह्मचारी को बाहर जाना चाहिये। इसका अभिप्राय इतना ही है कि बाह्य प्रभावों से ब्रह्मचारी की रक्षा हो सके।

ब्रह्मचारी कहा ही उसको जा सकता है जिसका पृथ्वी से लेके परमात्मा तक सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान-विज्ञान के ग्रहण करने का स्वभाव बन चुका हो। "ब्रह्मणि वेदे परमात्मनि वा चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी" इसके लिये जिसने शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि तथा अपनी सब वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली हो वह ब्रह्मचारी कहलाता है। इस प्रकार हम समझते हैं गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी का आचार्य के साथ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जो कभी टूट नहीं सकता, जिसके लिये देश और काल की दूरी बाधक नहीं होती। ऊपर ज्ञान और विज्ञान शब्द आये हैं, उनको भी यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। किसी पदार्थ की रचना के सिद्धान्त का ज्ञान अर्थात् बौद्धिक ज्ञान यहाँ ज्ञान शब्द से अभीष्ट है। और उस ज्ञान का प्रयोगशाला में अथवा सृष्टि में प्रयोग द्वारा और निरीक्षण करके दिखलाने को विज्ञान कहा है। ज्ञान और विज्ञान दोनों परीक्षण द्वारा हुआ करते हैं। अतः किसी पदार्थ के शिक्षण देने में ज्ञान और विज्ञान दोनों सहायक होते हैं। कहीं पर ज्ञान प्रधान विज्ञान होता है। और किसी अन्य स्थान पर

विज्ञान द्वारा ज्ञान की उपलब्धि कराई जाती है। आन्तर और बाह्य विकास कराने के लिये ज्ञान और विज्ञान दोनों की आवश्यकता है। तभी शिक्षण पूर्ण होता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने अर्जुन को कहा 'हे अर्जुन! मैं तुझे ज्ञान और विज्ञान दोनों का अब उपदेश करूँगा, जिसको जानकर फिर संसार में कुछ जानने योग्य नहीं रह जाता। कहा है—"ज्ञानं ते ऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः। यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" यहाँ पर अर्जुन श्रीकृष्ण के शिष्य हैं और श्रीकृष्ण अर्जुन के गुरु व आचार्य हैं। भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में, अर्जुन ने श्रीकृष्ण को कहा है कि मैं तेरा शिष्य हूँ और तेरी शरण में आया हूँ। तू मुझे शासन कर (शिष्योऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्) अर्जुन ने कहा है कि मैंने अपने आपको तेरे समर्पण कर दिया है इसलिये तू मेरा शासन कर, मुझे शिक्षा दे। इसी आधार पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को (ज्ञानं ते ऽहं सविज्ञानम्--इत्यादि) कहा।

ऊपर के सम्पूर्ण कथन को इस प्रकार कह सकते

हैं कि 'गुरुकुल' वह संस्था है जहाँ पर शिक्षार्थी अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग करके और अपने आपको आचार्य के समर्पण करके उसके अनुशासन में रहते हुए, अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण विद्या को ग्रहण करने के लिये उद्यत रहते हैं।

प्रश्न—(२) गुरुकुल का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर—यह प्रश्न ऐसा ही है, जैसे किसी व्यक्ति ने अपना मकान बनवाना हो और उसके लिये अन्य साधन सामग्री के साथ ईंटें पड़ी हुई हों और वह पूछने लगे कि इन ईंटों का क्या उद्देश्य है। इन ईंटों में कुछ ईंटें कच्ची हैं, कुछ अधपकी हैं, और कुछ पकी हुई हैं। भवन निर्माण में सभी तरह की ईंटों की आवश्यकता होती है। कितनी ईंटें किस प्रकार की चाहियें इसकी सूचना मकान के सामान का हिसाब रखने वाला इञ्जीनियर अपने काम करने वाले कुम्हार को दे देता है कि किस-किस प्रकार की कितनी-कितनी ईंटें तैयार करके इञ्जीनियर को सुपुर्द कर दे। न तो ईंटें अधिक बचें और न कम रहें। इसी प्रकार राष्ट्रभवन के निर्माण कार्य में जिस-जिस

प्रकार के विद्वान् राष्ट्र-संचालक को जितनी-जितनी मात्रा में अभीष्ट हों उसकी सूचना गुरुकुल के आचार्यों को राष्ट्र-संचालक द्वारा प्राप्त होती है। और उस सूचना के अनुसार आचार्य लोग राष्ट्र-निर्माण में काम आने वाले ब्रह्मचारी स्नातकों का तैयार करके राष्ट्र-संचालक के सामने उपस्थित करते हैं। राष्ट्र-संचालक उन उपस्थित व्यक्तियों को यथा-स्थान उपयुक्त करता है। इस प्रकार हम समझते हैं कि गुरुकुल का उद्देश्य पूर्ण विद्वान् और कर्मकुशल ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना है जो राष्ट्र-निर्माण में यथास्थान पूर्ण उपयोगी हो सकें। और राष्ट्र-संचालक कार्यकर्ता विभिन्न कार्यों में उन व्यक्तियों को लगाकर पूर्णतया सन्तुष्ट हों। ऐसे ही स्नातकों के लिये मनु महाराज की आज्ञा है कि सामने से स्नातक आता हो तो राजा भी उसके लिये मार्ग छोड़ दे। इसका कारण यही है कि गुरुकुल के स्नातक राष्ट्र का आधार होते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि गुरुकुल का उद्देश्य ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न राष्ट्र क आधार व्यक्तियों को तैयार करना है।

इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि संसार के सब व्यक्ति चार भागों में विभक्त हैं (१) शिक्षक २. रक्षक ३. पोषक ४. सहायक। गुरुकुल के ब्रह्मचारी स्नातक, अपने स्वभाव के अनुकूल जो इस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त होते हैं कि दूसरों को मार्गदर्शन करा सकें, शास्त्र का क्रियात्मक अध्यापन करा सकें, वे शिक्षक वर्ग में रखे जाते हैं। शिक्षक व्यक्ति राष्ट्र के अन्दर जनता को उसी प्रकार सुरक्षित रखते हैं, जिस प्रकार शरीर के अन्दर विद्यमान अंग प्रत्यङ्ग चर्म से ढके हुए सुरक्षित हैं, इसी प्रकार राष्ट्र की जनता शिक्षकवर्ग से ढकी हुई चर्मस्थानीय शिक्षकवर्ग को चर्म न कहकर शर्म कहते हैं। इसीलिये शर्म कहलाने वाले शिक्षक वर्ग के व्यक्ति अपने नाम के साथ शर्म्मा लगाते हैं। यह व्यक्ति सृष्टि के निर्माणकर्ता के नियमों को और सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान को मनुष्यों के सामने उपस्थित करते हैं। इसीलिये ब्रह्म का निर्देश करने में उन्हें पुरानी भाषा में ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण किसी जाति वा सम्प्रदाय का नाम नहीं है। परन्तु वे सब मनुष्य

ब्राह्मण कहे जाते हैं जो पूर्वोक्त कर्म करने के लिये अपने स्वाभाविक प्रेरित गुणों के अनुसार पूर्वोक्त कर्म किया करते हैं। इसी प्रकार शरीर के ऊपर बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिए कवच धारण किया जाता है। कवच को वर्म कहते हैं। वर्म के सदृश राष्ट्र के जो व्यक्ति राष्ट्र पर होने वाले बाह्य आघातों व आक्रमणों से रक्षा करने के लिए उद्यत होते हैं उन्हें रक्षक कहा जाता है। यह रक्षक वर्म स्थानीय होने से राष्ट्र के वर्म हैं और अपने नाम के साथ इस भाव का द्योतक शब्द वर्मा लगाते हैं। रक्षकों के लिये पुराना शब्द क्षत्रिय है। क्षत्रिय शब्द का अर्थ है जो 'क्षत्' अर्थात् चोट आक्रमण या प्रहार से राष्ट्र की रक्षा करे। इसलिये रक्षकों को उनके स्वभाव प्रेरित गुणों के अनुसार कर्म करने से पुरानी भाषा में क्षत्रिय कहा जाता है।

राष्ट्र के जो व्यक्ति राष्ट्र का भरण पोषण करते हैं वे पोषक कहलाते हैं। और पोषक व्यक्ति शिक्षकों और रक्षकों से सुरक्षित रहने के कारण गुप्त (सुरक्षित) कहे जाते हैं। और स्वभाव प्रेरित गुणों के अनुसार कर्म करने से अपने नाम के साथ 'गुप्त' शब्द लगाते

हैं। राष्ट्र के साधारण प्रजावर्ग का नाम 'विश' है। विश वर्ग में जो व्यक्ति प्रविष्ट हैं उनका नाम वैश्य है, वैश्य वर्ग राष्ट्र की धन सम्पत्ति का उत्पादक है। इसी धन सम्पत्ति पर और उसके उत्पादकों पर राष्ट्र का भौतिक जीवन आश्रित है। वैश्यवर्ग के सुरक्षित रहने से राष्ट्र का जीवन सुरक्षित रहता है। इसलिये अपने स्वभावानुकूल गुणों के अनुसार कर्म करते हुए राष्ट्र के उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न करने और राष्ट्र सम्पत्ति को बढ़ाने तथा उसे सुरक्षित रखने से वैश्यवर्ग के व्यक्ति अपने नाम के साथ साथ गुप्त लगाते हैं। जैसे शरीर में शरीर रूपी राष्ट्र के अन्दर के सब अङ्ग चर्म और वर्म से सुरक्षित व गुप्त रखे जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के सब उत्पादक व्यक्तियों को शर्मा और वर्मा लोग गुप्त रखते हैं।

जनता का चतुर्थ भाग जिसके ऊपर राष्ट्र के सम्पूर्ण व्यक्ति खड़े हुए हैं, वह भाग बड़े महत्त्व का है। जिस प्रकार पांव शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों तथा भागों को अपने ऊपर सम्हाले हुए हैं, उसी प्रकार

राष्ट्र के सम्पूर्ण भार को राष्ट्र का चतुर्थ वर्ग अपने ऊपर सम्हाले हुए है। यह वर्ग इतना समझदार है कि जहां जिस काम के लिये इसे आज्ञा होती है उस काम में सहायता देने के लिये सदा तत्पर रहता है। इसकी तत्परता शिथिल हो जाये तो राष्ट्र का कार्य सुचारू रूप से नहीं हो पाता। हम इस वर्ग को सहायकवर्ग कहते हैं। सामान्यतया तो राष्ट्र में रहने वाले सब ही व्यक्ति राष्ट्र के सेवक होते हैं, परन्तु चतुर्थ वर्गके व्यक्ति राष्ट्र की दृष्टि से सेवक होते हुए अपने उत्तरदायित्त्व के काम की दृष्टि से सहायक कहलाते हैं। उनकी सहायता के बिना सम्पूर्ण राष्ट्र ऐसा अपङ्ग और असमर्थ हो जाता है जैसे पैर कट जाने पर शरीर अपङ्ग और असमर्थ हो जाता है। सहायक व्यक्ति अपनी सहायता की अपेक्षा रखते हुये अपने स्वभावानुकूल गुणों के अनुसार सहायता का कर्म करते हुए प्रत्येक कार्य में शीघ्रगामी होते हैं। इसलिये इनको शूद्र कहा जाता है (शु-आशु कार्येषु द्रवणात्, द्रुतगामित्वाद्वा शूद्रः)। इस प्रकार चारों विभागों का उनके गुणकर्मानुसार गुरुकुलों में शिक्षा दिये जने से राष्ट्र का स्वरूप यथार्थ रीति से सम्पन्न होता है। इस प्रकार राष्ट्र के स्वरूप को सम्पन्न करना गुरुकुलों का उद्देश्य है।

गुरुकुल के उद्देश्य में यह समझ लेना है कि गुरुकुल सब प्रकार के साम्प्रदायिक भावों, जातीयता के बन्धनों और प्रान्तीयता के अभिमानों से मुक्त है। राष्ट्र का वह व्यक्ति जो किसी भी प्रकार साम्प्रदायिकता, जातीयता और प्रान्तीयता के संकुचित भावों से बद्ध है वह किसी भी प्रकार गुरुकुल के जीवन से सम्बन्ध में रहता हुआ कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता, क्योंकि गुरुकुल का उद्देश्य सब प्रकार के संकुचित भावों को दूर करके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साधनों से शिक्षार्थी को समुन्नत करके राष्ट्र को सम्पन्न करता है। जितनी राष्ट्र के व्यक्तियों में से संकुचितता दूर होती जायेगी उतना वे परमात्मा के ज्ञान के प्रकाश और कर्म से युक्त होकर परमात्मा के दिव्य अनुभव के योग्य राष्ट्र के व्यक्ति बन सकेंगे। इसलिये कहा जा सकता है कि राष्ट्र के व्यक्तियों को परमात्मा की विभूतियों से सम्पन्न होने की शिक्षा देना और उसका क्रियात्मक अभ्यास कराना गुरुकुलों का उद्देश्य है। पहिले दिखलाये गये मानव जाति के चार विभागों में से राष्ट्र का जो व्यक्ति मनोवैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा जिस-जिस विभाग के अन्तर्गत होगा, उस उस विभाग के अनुसार उस उस व्यक्ति को उन्नत करना गुरुकुल का उद्देश्य है।

इस उद्देश्य की सफलता के साथ पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ कार्य सम्बन्धी योग्यता सूचक उपाधि आदि का निर्देश सूचक शब्द लगावे और इसके अतिरिक्त जात-पांत व सम्प्रदाय सूचक शब्द नाम के साथ किसी भी कार्य में लगाना अनुचित रहना चाहिये।

प्रश्न— ३ गुरुकुल-आश्रम जीवन का लक्ष्य क्या है ?

उत्तर—गुरुकुल में शिक्षा पाने वाले ब्रह्मचारी का कार्यक्रम चार विभागों में विभक्त किया है। (१) अग्नि-सेवा (२) आचार्य-सेवा (३) गो-सेवा (४) मृत्यु-सेवा। इन चार सेवाओं के द्वारा ब्रह्मचारी का आश्रम जीवन, सुसम्पन्न और सुफल होता है। पहिली सेवा अग्नि सेवा है

१—अग्नि सेवा

स्थूल अर्थों में तो समझना चाहिये कि आश्रम में विद्यमान अग्नि कभी बुझे नहीं, उसको समिन्धन करते हुये कभी बुझने नहीं दिया जाता, यह एक चिन्ह है। अग्नि उत्पादक साधनों के सुगम और सुलभ होते हुए भी अग्नि को प्रज्वलित रखना आवश्यक है। आश्रम में प्रज्वलित अग्नि इस बात का सूचक है कि गुरुकुल जिस उद्देश्य को अपना ध्येय बनाकर स्थापित हुआ है वह ध्येय अग्नि है। और सदा हमारे हृदयों को प्रकाशित रखे,

हमारे हृदयों में से गुरुकुल का ध्येय रूपी अग्नि कभी बुझने न पावे। इसको भौतिक अग्नि के चिन्ह रूप में सदा प्रज्वलित रखा जाता है। और उस भौतिक अग्नि में सायं प्रातः आहुति डालते हुए कहा जाता है (अयमग्नि-र्गृहपतिर्युवा सायं प्रातः सौमनस्य दाता) सायंकाल और प्रातःकाल यह अग्नि जो गुरुकुल रूपी घर का स्वामी है गुरुकुल वासियों में से कभी बुझना नहीं चाहिये। युवा पुरुष की तरह सदा जीवित, जाग्रत, उत्साहसम्पन्न प्रज्वलित रहना चाहिये। सायंकाल और प्रातःकाल वह अग्नि प्रज्वलित रहता हुआ गुरुकुल के ध्येय के प्रति हमारी सद्भावनाओं को (सौमनस्य) को देने वाला रहे।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाले बालक को उसके माता-पिता ने जीवन के विशिष्ट-ध्येय को पूर्ण करने के लिये उसे उत्पन्न किया होता है। बिना किसी उद्देश्य के उत्पन्न किये गये बालक, गुरुकुल के योग्य नहीं होते। विवाहित दम्पति जिस अग्नि के सामने विवाह संस्कार करते हैं वहाँ उन्हें प्रतिज्ञा करनी होती है और भारी सभा में प्रगट करना होता है कि राष्ट्र के अमुक कार्य को प्रगति देने के लिये यह विवाह संस्कार कर रहे हैं। विवाह संस्कार के समय जिस अग्नि की उन्होंने प्रदक्षिणा की है, प्रतीक रूप में वह बाह्य अग्नि कभी

बुझने नहीं पाता। इसी प्रकार उनके मन में प्रज्वलित हुआ जीवन का ध्येय रूपी अग्नि कभी बुझने नहीं पाता। इतना ही नहीं, परन्तु उसके सन्तान में भी वही अग्नि सङ्कल्प बल से प्रतिष्ठित हुआ होता है। इसी अग्नि के ज्ञान विज्ञान को ग्रहण करने के लिये अपने जीवन का ध्येय बनाकर गुरुकुल में वह बालक ब्रह्मचारी अपने ध्येय को पूर्ण करने की इच्छा से आत्म-समर्पण करके प्रविष्ट होता है। निरुद्देश्य खिलवाड़ के तौर पर गृहस्थधर्म का पालन करने वालों से उत्पन्न बालक लावारिस बालकों के समान होते हैं। वे गुरुकुल में प्रविष्ट होने योग्य नहीं होते। प्रातःसायं उन्हें अपने मनों में विद्यमान अग्नि को प्रज्वलित, उत्साहित करने के लिये आचार्य की अग्नि में समिधा का आधान करना होता है। इस प्रकार समिधाधान करते हुए अग्नि को प्रज्वलित रखना, उसे बुझने न देना, यह ब्रह्मचारी की अग्नि-सेवा है।

२—आचार्य-सेवा

ब्रह्मचारी के कार्य-क्रम में दूसरी सेवा आचार्य-सेवा है। आचार्य भी अग्नि है। अग्नि के धर्म सब के अनुभव में आते हैं—प्रकाश और गर्मी। आचार्य ज्ञान और विज्ञान से ब्रह्मचारी के मन को प्रकाशित करता है और उसे कर्मशील बनाने के लिये उत्साहित रखता है। ब्रह्मचारी को उत्साहित रखना ही उसे गर्मी पहुँचाना है।

इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान से अपने मन को प्रकाशित रखता हुआ ब्रह्मचारी अधिक से अधिक समय अपने को आचार्य की उपस्थिति में व समीपता में रक्खा करता है। आचार्य के समीप में रहना, यह आचार्य की सेवा है। इसके अतिरिक्त आचार्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए, भौतिक सेवा भी करनी होती है।

ऐसा नियम है, कि यदि हमें दीपक से प्रकाश लेना हो, तो हमें ध्यान रखना पड़ता है कि दीपक में तेल-बत्ती बराबर बनी रहे और जलती रहे, तब हम उससे यथोचित प्रकाश लेते रहेंगे। यदि हमारा ध्यान तेल और बत्ती के सम्बन्ध में नहीं रहेगा तो दीवा बुझ जायेगा और हमें अन्धेरे में रहना पड़ेगा। बिजली का लैम्प होते हुए भी हमें यह ध्यान रखना पड़ता है कि विद्युत धारा का प्रवाह लैम्प में बराबर बना रहे। और लैम्प में लगे हुए तार जल न जावें। यदि विद्युत् धारा का प्रवाह बन्द हुआ अथवा लैम्प में लगे हुए तार जल गये, तो अन्धेरा हो जायेगा, और हमें अन्धेरे में रहना पड़ेगा। इसी प्रकार आचार्य से निकलते हुए ज्ञान और विज्ञान के प्रवेश से ब्रह्मचारी ने लाभ उठाना है तो ब्रह्मचारी को उचित है, कि वह अपने आचार्य को सेवाओं के द्वारा तथा जो उसने शिक्षा दिया है उस शिक्षा को प्रश्न-प्रतिप्रश्न के द्वारा आचार्य को प्रोत्साहन देता रहे कि जिससे आचार्य रूपी

अग्नि मन्द न होने पावे। किसी मिठाई में जितना अच्छा मीठा डाला जाता है, मिठाई उतनी ही स्वादिष्ट बनती है। ब्रह्मचारी जितना अधिक अपनी जिज्ञासा और विनय आदि गुणों से आचार्य की सेवा करता रहेगा, उतने ही अधिक आचार्य उत्साहित रहेंगे और ब्रह्मचारी को ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न करेंगे।

कुएं में पानी विद्यमान है, परन्तु प्यासे व्यक्ति के पास, डोल और रस्सी (गुण) होनी आवश्यक है। डोल छोटा होगा तो कुएं में से पानी खींचने पर थोड़ा पानी मिलेगा—और बड़ा डोल होगा तो अधिक पानी मिलेगा, परन्तु बड़े डोल से पानी खींचने के लिए रस्सी दृढ़ (गुणों की प्रबलता, अधिकता) होनी आवश्यक है। साथ ही बड़ा डोल खींचने के लिये अधिक शक्ति वा योग्यता भी होनी चाहिये। इसी प्रकार आचार्य से ज्ञान-रूपी रस को ग्रहण करने के लिये ब्रह्मचारी में गुण और योग्यता तथा सामर्थ्य होना आवश्यक है। यदि ब्रह्मचारी में इनकी कमी है तो वह आचार्य में विद्यमान ज्ञान रूपी रस को ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये ब्रह्मचारी के लिये उचित है कि वह विद्या रूपी धन को प्राप्त करने के लिये सर्वदा अपनी पात्रता प्रगट करता रहे। उसकी पात्रता को जानते हुए आचार्य सर्वदा उत्साहित रहेंगे और

ज्ञान की वर्षा करने के लिये कृपादृष्टि करते रहेंगे। यह आचार्य का तात्पर्य संक्षेप से प्रगट किया है।

३— गोसेवा

ब्रह्मचारी के दैनिक समय-विभाग का तीसरा विभाग गोसेवा है। गोसेवा का अर्थ है—गाय की सेवा। बिना गाय के न अग्निहोत्र हो सकता और न आचार्य की सेवा ही ठीक-ठीक हो सकती है। गुरुकुल में जो गायें रहती हैं, ब्रह्मचारी उन गायों की सेवा किया करते हैं। गाय ब्रह्मचारियों के साथ उनकी माताओं से भी अधिक उनको प्यार करती है। ब्रह्मचारी अपने हाथ से गायों का भोजन (चारा) तैय्यार करके गायों को खिलाते-पिलाते है। उनकी और उनके स्थानों की सफाई अपने हाथों से करते हैं। गायें उनकी सेवाओं को खूब समझती हैं और उनके प्यार से सम्मृद्ध हुआ दूध उन्हें देती हैं। इन गायों का दूध, दही, घी, मक्खन आदि पदार्थ अग्निहोत्र के लिये उपयोग में लाया जाता है, इसी कारण ये गायें, अग्निहोत्री गायें कहलाती हैं। इन अग्निहोत्री गायों से गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम का वातावरण सात्विक, सुगन्धित, पुष्टिप्रद, मेधाजनक, बुद्धिवर्धक, नीरोग, स्वास्थ्यप्रद तथा शान्त रहता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य के मुख से निकली हुई वाक् रूपी गौ का सेवन ब्रह्मचारी के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

और दूसरों के लिये भी ब्रह्मचारी अपनी वाक् रूपी गौ का प्रयोग इस प्रकार से करता है कि वह वाक् रूपी गाय किसी के मन को दुःख नहीं देती, प्रत्युत, उस गाय में विद्यमान ज्ञान रूपी रस-स्वाद का पान कर सुनने वाले सज्जन आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचारी को यह सब शिक्षण अग्निहोत्री गायों की सेवा से प्राप्त होता है। इसलिये ब्रह्मचारी के दैनिक कार्य-क्रम में गोसेवा को आवश्यक स्थान दिया गया है। गो-सेवा का ब्रह्मचारी के जीवन में बड़ा महत्त्व है। इस महत्त्व का लाभ ब्रह्मचारी बिना गोसेवा के अन्य किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता।

४—मृत्यु—सेवा

अब इसके पश्चात् ब्रह्मचारी के दैनिक कार्यक्रम में चतुर्थ विभाग मृत्यु-सेवा का है। मृत्यु का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में "अशनाया वै मृत्युः" इस वचन से मृत्यु का अर्थ अशनाया किया है। अशनाया का अर्थ है अपनी भोग्य सामग्री को प्राप्त करने की इच्छा और उसके लिये प्रयत्न।

इससे हमें यह बोध होता है कि गुरुकुल के ब्रह्मचा-रियों को अपनी भोग्य सामग्री अर्थात् अन्न, वस्त्र और रहने को स्थान अपने पुरुषार्थ से तैयार करने चाहियें। वनवास के समय पंचवटी में श्री रामचन्द्र जी के आदेशा-

नुसार राजकुमार लक्ष्मण जी ने सुन्दर कुटिया निर्माण करके खड़ी कर दी। रामचन्द्र जी उसको देखकर बड़े प्रसन्न हुए, उस से ज्ञात होता है कि पुराने समय में ब्रह्मचारियों को वेदादि सत् शास्त्रों की शिक्षा में पारङ्गत होने के साथ-साथ गृह निर्माण आदि विद्या का क्रियात्मक शिक्षण भी अवश्य दिया जाता था। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलना है कि गुरुकुल में ब्रह्मचारियों को वेदादि सत्य शास्त्रों के अभ्यास के साथ साथ यह शिक्षा दी जानी चाहिये कि वे अपना अन्न, वस्त्र और निवास योग्य गृह का निर्माण स्वयं विधिपूर्वक कर सकें।

श्रमी जीवन में श्रम करते हुए अपने प्राणों को व्यय करते हुये जीवन व्यतीत करने का नाम मृत्यु सेवा है। राष्ट्र के जिस व्यक्ति ने अपने ब्रह्मचर्यकाल में मृत्युसेवा की है अर्थात् केवल दिमागी शिक्षा न लेकर हाथ से काम करने का अभ्यास डाला है, और अपने हृदय को राष्ट्र की उन्नति के साथ सम्बद्ध किया है, वही ब्रह्मचारी पूर्ण विद्वान् होकर राष्ट्र का सच्चा सेवक कहलाने के योग्य होता है। इस प्रकार हम समझते हैं कि गुरुकुल में ब्रह्मचारी का आश्रमजीवन ४ घण्टे विद्याभ्यास में व्यतीत हो तो, आठ घंटे उस कर्मशील जीवन के व्यतीत करने चाहियें। यदि ७ या घंटे निद्रा व विश्राम के लिये लगावें तो, चार या पांच घंटे इसे अपने नित्य कर्म के शारीरिक तथा

उपासना अग्निहोत्रादि के लिये लगाने होते हैं । इस प्रकार उसके गुरुकुल आश्रम जीवन के २४ घंटों का स्थूल रूप से कार्यक्रम होता है ।

इस प्रकार ब्रह्मचारी को अपने गुरुकुल के आश्रम जीवन में पूर्वोक्त चार प्रकार की सेवाओं का अभ्यास करना होता है । ब्रह्मचारी के लिये जो नियम शास्त्रों में बताये गये हैं, तपस्या करते हुये पूर्णरीति से अपने जीवन में उनको ढालना ब्रह्मचारी के आश्रम-जीवन का लक्ष्य होना चाहिये । यदि इस लक्ष्य की पूर्ति में शिथिलता होगी तो, न वह विद्वान् बन सकेगा और न कर्मशील ।

गुरुकुल आश्रम जीवन में रहते हुये ब्रह्मचारी को सर्वप्रथम मोह पर विजय पाने का अभ्यास करना होता है । तत्पश्चात् वह लोभ पर विजय पा सकता है । उसके पश्चात् उसे क्रोध और काम पर विजय पाने की सम्भावना होती है । इन वृत्तियों पर क्रमशः विजय पाने का अभ्यास करते हुये वह शूद्र अवस्था से ब्राह्मण अवस्था तक क्रमशः उन्नति करता जाता है । विद्या और कर्म में ब्रह्मचारी को निष्णात करते हुये, उसके जीवन को विकसित करना गुरुकुल आश्रम-जीवन का महान् लक्ष्य है ।

प्रश्न—४ वर्तमान काल में किसी के आगे हाथ पसारे बिना गुरुकुल कैसे चलाया जा सकता है ?

उत्तर—हम मानते है कि राष्ट्र की भूमि का वितरण

इस प्रकार से होना चाहिये कि एक-एक गुरुकुल के लिये उतनी—उतनी भूमि उसके साथ संलग्न हो, जितनी-जितनी भूमि वहाँ के निवासियों का भरण-पोषण कर सकती हो। हमारे राष्ट्र में गुरुकुलों का ऐसा जाल फैला हुआ हो कि सम्पूर्ण भूमि गुरुकुलों में विभक्त हो जाये। जितने व्यक्ति एक-एक गुरुकुल में रहते हों वे सब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने परिश्रम से करते हों। यदि अधिक उत्पत्ति हो तो वह उत्पत्ति राष्ट्र के गोदामों में चली जाये। गुरुकुलों को अपरिग्रहवृत्ति से रहना उचित है। इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्र अपरिग्रह राष्ट्र होगा। राष्ट्र में जितनी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं, वे सब परिग्रहवृत्तिका परिणाम हैं। अपरिग्रह वृत्ति से राष्ट्र में रुपये पैसे के चलन की आवश्यकता नहीं रहती। इसके हट जाने से सच्चे अर्थों में राष्ट्र सुखी, समृद्ध, शान्तिमय बनेगा। प्रत्येक व्यक्ति उद्यमी रहेगा निरुद्यमी नहीं। राष्ट्र के हर एक व्यक्ति को वह काम करना ही होगा जिस काम के करने के लिये वह पूर्णतया समर्थ हुआ है। किसी कार्य करने के लिये सामर्थ्य और निपुणता उसने गुरुकुल में शिक्षण प्राप्त करते हुये प्राप्त की है।

राष्ट्र के व्यक्ति के लिये कोई काम छोटा या बड़ा लज्जा-जनक नहीं होता। सब व्यक्तियों को सभी काम समय समय पर करने होते हैं। किसी भी काम में छोटापन या बड़ा

पन अथवा घृणा का भाव गुरुकुल में रहते हुये, राष्ट्र के व्यक्तियों में से दूर हो जाता है। किसी प्रकार का जातीयता, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता का भाव गुरुकुल में रहते हुये नहीं रहता। गुरुकुल के व्यक्ति राष्ट्रहित की दृष्टि से, ज्ञान का सञ्चय व कर्म में निपुणता प्राप्त करते हैं।

गुरुकुलों में सब प्रकार के हुनर ब्रह्मचारियों को सिखाये जाते हैं। गुरुकुल का ब्रह्मचारी हुनर और उद्योग में निपुण हो कर, स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है। इस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारियों से बना राष्ट्र, सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र राष्ट्र होता है। इस प्रकार उद्यम करते हुये, गुरुकुल निवासी धनिकों के सामने बिना हाथ पसारे गुरुकुलों को स्वावलम्बी बना सकते हैं।

गुरुकुल में कार्य करने वालों के लिये किसी प्रकार की आयु का प्रतिबन्ध नहीं होता। जो ज्ञान-विज्ञान के काम में निपुण होता है वह किसी भी आयु का क्यों न हो, गुरुकुल के लिये उपयोगी समझा जाता है। राष्ट्र के ऐसे व्यक्ति जो शिथिलाङ्ग या विकलाङ्ग हों, उन्हें राष्ट्र के चिकित्सालय या जेल (कारागर) में रहना उचित होता है। और उनके भरण-पोषण सम्बन्धी व्यय का भार सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़ता है।

स्वतन्त्र राष्ट्र में शिशु तथा बालकों का पालन-पोषण शिशुशालाओं में होता है। जब वे बालक गुरुकुलों में प्रविष्ट होने योग्य होते हैं, तब उन्हें गुरुकुल में भेज दिया

जाता है । जब शिक्षण समाप्त करके द्वितीय आश्रम के अधिकारी होते हैं, तब उन्हें राष्ट्र की ओर से गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कराया जाता है । इसके अतिरिक्त जब निवृत्त जीवन के अधिकारी होते हैं तब उन्हें राष्ट्र की ओर से किसी गुरुकुल में शिक्षक के रूप में नियुक्त किया जाता है । निवृत्ति पाये हुये राष्ट्र के व्यक्ति जन कल्याण की दृष्टि से राष्ट्र धर्म के प्रचारक व मार्गदर्शक के रूप में राष्ट्र की ओर से नियुक्त किये जाते हैं ।

इस प्रकार राष्ट्र में जितने भी गुरुकुल होते हैं वे सब अपना कार्य, धनियों के सामने हाथ पसारे विना स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करते हैं । ऐसे व्यक्तियों में अपने जीवन की आवश्यकताओं को कम से कम रखना और उन्हें अपने परिश्रम से पूरा करना यह लक्ष्य होना चाहिये । सब गुरुकुल निवासियों का जीवन तपोमय और संयमी होना चाहिये । गुरुकुल निवासियों के लिये विशेषत: आवश्यक है कि वे अपने जीवन में शृङ्गार से नितान्त पृथक् रहें । क्योंकि अनुभवी लोगों का कथन है कि "शृङ्गार—व्यभिचार की जननी है ।" गुरुकुल ब्रह्मचर्य आश्रमों में शृङ्गार और ब्रह्मचर्य यह दो साथ-साथ नहीं रह सकते । समय पा कर किसी न किसी रूप में दोष पैदा हो ही जाते हैं । दोषों के कारण शरीर, मन, बुद्धि, और आत्मा दुर्बल रोगी अनेक दुरितों के घर हो जाते हैं ।

पूर्वकाल में पड़ी हुई उनकी जड़ों और अंकुरों को दूर करना, पिछली आयु में अति कठिन हो जाता है। यह कठिनता उस प्रकार समझनी चाहिये जिस प्रकार कपड़े का ठीक प्रकार उपयोग न जानने वाला और न करने वाला व्यक्ति, दृढ कपड़े को भी शीघ्र जीर्ण कर डालता है। और दरिद्रता के कारण नया कपड़ा खरीदने मे असमर्थ हुआ, पुराने जीर्ण कपड़े में ही टिकलियां लगा लगा कर उसी जीर्ण कपड़े से अपना काम निकालना चाहता है और अपने किये पर पश्चात्ताप करता है कि उसने अपने असंयमित स्वभावों पर विजय न पाकर और कुसङ्ग में पड़कर अपना नाश कर लिया है। इसलिये गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम जो राष्ट्रोन्नति का आधार है उसमे ब्रह्मचर्य व संयमी जीवन पर बड़ा बल दिया गया है। इसके बिना गुरुकुल के कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती ।

सूचना—नीचे लिखी पङ्क्तियां प्रथम प्रश्न के अन्त में जोड़कर पढ़ें।

"शूद्र को दास भी कहते हैं, दास का अर्थ स्लेव (slave) नहीं है, दास शब्द 'दस उपक्षये' धातु से बनाता है—दस्यन्ति उप = समीपे क्षियन्ति निवसन्तीति दासाः, कर्म कर्तुं तत्पराः सेवकाः, सहायकाः, एटेण्डेण्ट् स (Attendants)। इस प्रकार सहायक वर्ग के व्यक्ति जो आदेशों को पूर्ण करने के लिये सर्वदा सन्नद्ध और उपस्थित रहते हैं, उनको दास शब्द से कहा जाता है।"

वर्तमान राष्ट्र प्रणाली में जो कुछ हो सकता है वह इतना ही, कि गुरुकुल के पास अधिक से अधिक जितनी भूमि हो उस भूमि में कृषि और शाक-भाजी तथा फल फूल, साथ ही कपास उत्पन्न की जावे। इस सम्पूर्ण कार्य में जहां तक हो सके ब्रह्मचारी कार्य करें। कृषि के साथ गोसेवा अत्यावश्यक है, ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। इन दोनों का विज्ञान किसी जानकार, निपुण, अनुभवी कृषक और गोसेवक को शिक्षक तथा निरीक्षक के रूप में रख कर भूमि और गायों की उन्नति कराई जाये। इस प्रकार जो व्यक्ति गुरुकुल में कार्य करते हों वे सब पारस्परिक, क्रियात्मक सहयोग से कार्य करें। गुरुकुल में उतने ही व्यक्ति रहें जितनों को गुरुकुल भूमि सम्भाल सकती है।

जहां तक हो सके, गुरुकुल निवासियों का जीवन अर्पित और स्वावलम्बी हो, नौकर होकर कोई व्यक्ति न रहे, सब व्यक्तियों को गुरुकुल का अङ्ग होकर रहना चाहिये। इस प्रकार गुरुकुल का जीवन व्यतीत होते हुए, कुछ वर्ष के पश्चात् स्वावलम्बी तथा धनियों के आगे हाथ न पसारने वाला बन सकेगा। संख्या बढ़ाने का प्रयत्न दिखावे के लिये तथा नाम के लिये नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों को अपनी तपस्या और संयम द्वारा कम किया जा सकता है उनको कम करना चाहिये। शेष सब कुछ स्थानीय विचारशील अनु-

भवी परिश्रमी निर्लोभी और जीवन समर्पण करने वाले कुशल व्यक्तियों पर निर्भर है। भूमि गोमाता है उस पर गाय, गोमाता का जीवन है।

शिक्षकों का जीवन शिष्यों पर और शिष्यों का जीवन शिक्षकों पर आश्रित है। और सबका जीवन अपने अपने कर्मानुसार परमात्मा पर आश्रित है।

हम समझते हैं, हमने इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, तो भी यदि किन्हीं महानुभावों को विशेष पूछने की आवश्यकता हो तो अवश्य पूछें, हम उत्तर देने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे, क्योंकि इस विषय पर अधिक से अधिक विचार होने की आवश्यकता है।

(५) गुरुकुलों का प्रसार।

पुराने समय में गाँव-गाँव में गुरुकुल होने के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र में गुरुकुलों का जाल बिछा हुआ था। प्रत्येक देवालय में एक योग्य विद्वान् शिक्षक रहता था, उसके पास छोटी छोटी अनेक कुटियों में ब्रह्मचारी (छात्र) ज्ञान विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करते थे। जिस विषय का वह विशेषज्ञ होता था उस विषय को समझाने के लिये देवालय में मूर्ति और नक्शों की स्थापना होती थी। उन मूर्तियों और नक्शों के द्वारा उस विषय का विद्वान् = वह देव अपने ब्रह्मचारियों को उसी प्रकार अपने विषय का

स्पष्टीकरण कराता था जिस प्रकार आजकल सामान्य अध्यापक नक्शों के द्वारा, और विषय को स्पष्ट करने वाले मौडल्स के द्वारा विद्यार्थियों को शिक्षणालयों के अन्दर ज्ञान ग्रहण कराया करते हैं।

उस समय प्रत्येक देवालय शिक्षणालय होता था। गांव के बाहर और समीप ये शिक्षणालय समाज के व्यक्तियों के लिये; शिक्षण के साथ-साथ प्रचार का कार्य भी करते थे। सायं और प्रातःकाल गांव के लोग उस विद्वान् शिक्षक (देव) के पास जाकर अनेक प्रकार की शिक्षा ग्रहण करते थे, जिससे उनके जीवन योग्य मार्ग में चलते थे और उनके जीवन में सुख तथा शान्ति विद्यमान रहती थी। जिस धार्मिक शिक्षण के लिये लोग तरसते हैं और चाहते हुए भी उत्तम जीवन की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते, वह धार्मिक शिक्षा पूर्वोक्त प्रकार से देश में प्रसारित हो रही थी। ब्रह्मचारियों और उनके शिक्षक आचार्य के लिये गृहस्थी लोग प्रत्येक पक्ष या मास के पश्चात् या साप्ताहिक कुछ न कुछ भेंट के रूप में अर्पित किया करते थे। इस अर्पण में आटा, घी, दाल-शाक, सब्जी आदि साधारण पदार्थ तथा कुछ नकद नारायण भेंट हुआ करती थी। इस प्रबन्ध के द्वारा ब्रह्मचारियों और उनके विद्वान् आचार्य देव का भरण-पोषण आदि कार्य सुव्यवस्थित चला करता था।

छोटे देवालयों में से शिक्षक द्वारा चुने हुये ब्रह्मचारी

बड़े देवालयों में जाया करते थे, जहां उन्हें उच्चकोटि की ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाया करती थी। और इसी प्रकार वहां से चुने हुये ब्रह्मचारी अति उच्च शिक्षण प्राप्त करने के लिये अति उच्च शिक्षणालयों में जाया करते थे और अति उच्च शिक्षण का लाभ प्राप्त करते थे। सब का निर्वाह पूर्वोक्त प्रकार से दिखलाई गई भिक्षावृत्ति द्वारा हुआ करता था। समझदार ब्रह्मचारी स्वयं भी भिक्षावृत्ति के लिये समीप के ग्रामों में जाते और अपने आचार्यों की सेवा करते थे।

शिक्षण पद्धति में वेतन का कहीं प्रश्न नहीं था, किसी व्यक्ति के रोगी होने पर स्थानीय चिकित्सक बड़े भक्ति भाव से ब्रह्मचारियों की, आचार्यजनों की तथा ग्रामीण जनता की चिकित्सा किया करते थे। और उन चिकित्सकों को भी ग्रामीण जनता समय समय पर अपने परिश्रम से प्राप्त फल का भागीदार बनाती थी, और किसी को भी वेतन की आवश्यकता नहीं थी।

प्रत्येक प्रकार के श्रमी-लोगों के लिये ग्रामीण जनता की ओर से भोजनालय और उपयोगी वस्तुओं के भण्डार होते थे, जहां से ग्रामीण जनता को भोजन वस्त्र आदि की उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाती थी। इस प्रकार वेतन का रुपयों के रूप में प्रचार होने और करने की आवश्यकता नहीं थी। ऐसा अपरिग्रह राज्य बड़ी शान्ति का धाम बनता था। मनुष्यों के पारिवारिक और सामाजिक कार्यों

को गांव के लोग मिलकर उठा लेते थे। किसी को कोई कष्ट और चिन्ता नहीं होती थी।

पहले हम दिखा चुके हैं कि शिक्षण प्रणाली और चिकित्सा-प्रणाली किस प्रकार निःशुल्क हो सकती है और यह भी कहा जा चुका है कि अपरिग्रह-राष्ट्र होने के लिये हमें किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिये। इसी को अधिक दृढ़ करने के लिये, आगे हम कुछ ऐसे निर्देश करना चाहते हैं; जिनके अनुसार कार्य करते हुये, हमारा राष्ट्र सब प्रकार से निर्दोष और दोष-मुक्त हो सकता है। सबसे पहले हमें यह देखना है, कि मनुष्यों को साधारणतः किन बातों की चिन्ता रहती है, और उन चिन्ताओं के कारण न तो वे राष्ट्र की उन्नति का ध्यान रख सकते हैं, और न ही अपने आपको, उत्तम राष्ट्र के योग्य बना सकते हैं। यदि जनता के व्यक्तियों पर से आगे कही जाने वाली चिन्ताएँ दूर करदी जायें, तो राष्ट्र के व्यक्तियों को, अपने आपको राष्ट्र के योग्य हो सकने का पूर्ण अवसर मिलेगा, और राष्ट्र, संसार की दृष्टि में समुन्नत राष्ट्र बनेगा, तथा विभिन्न प्रकार की, दुरवस्थायें लोगों में से दूर हो जायंगी, और मुकद्दमे, इत्यादि का व्यर्थ झंझट लोगों में से दूर होकर सच्चे अर्थों में राष्ट्र समुन्नत और आदर्श राष्ट्र बनेगा। जिस राष्ट्र में कोई चोर नहीं रहेगा, और न कोई झूठ बोलने वाला होगा, न ऐसा होगा जिसके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं। कोई मनुष्य निरक्षर नहीं रहेगा तथा न कोई कंजूस होगा,

और इस राष्ट्र में व्यभिचारी, और व्यभिचारिणी का अस्तित्व न होगा। ऐसा आदर्श राष्ट्र अश्वपति के उस राष्ट्र के सदृश बनेगा, जिसके लक्षण ऊपर दिखलाये हैं, और जिसका वर्णन उपनिषदों में आया है। अश्वपति ने ऋषियों को कहा है—न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥"

इस प्रकार का राष्ट्र बनाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है, कि राष्ट्र में ऐसी शिशु शालाओं की स्थापना हो, जिन शालाओं में राष्ट्र के बच्चों का पालन-पोषण, राष्ट्र की दृष्टि रखते हुये, योग्य रीति से हो, जिस योग्य रीति से बच्चों का पालन-पोषण घरों में नहीं हो पाता। जब बच्चे शिक्षणालय में जाने के योग्य हो जायें, तब सबको, पहिले दिखाई गई राष्ट्रिय गुरुकुलों की प्रणाली में शिक्षण प्राप्त करने के लिये भेजा जाये। इन गुरुकुलों में राष्ट्र की दृष्टि से, राष्ट्र के बालक, योग्य शिक्षण प्राप्त कर सकेंगे। अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूर्ण शिक्षण प्राप्त कर चुकने के पश्चात् द्वितीय आश्रम में प्रवेश करने के लिये, योग्य रीति से उनका प्रवेश संस्कार, राष्ट्र के निर्दिष्ट व्यक्ति करायेंगे। संस्कार में किसी प्रकार का अनुचित व्यय न होकर राष्ट्र की दृष्टि से वर-वधू के कर्तव्य समझाये जायेंगे, और उनको राष्ट्र हित की दृष्टि से ही सन्तान उत्पन्न करनी होगी। जब द्वितीय आश्रम की अवधि समाप्त हो जायगी, और द्वितीय आश्रम के व्यक्ति,

विरक्त जीवन के इच्छुक होंगे, तब राष्ट्र के प्रमुख व्यक्तियों के द्वारा आज्ञा प्राप्त हुये वे व्यक्ति विरक्त जीवन व्यतीत करेंगे।

साथ ही उन्हें, राष्ट्रिय गुरुकुल शिक्षणालयों में शिक्षण कार्य करते हुये राष्ट्र के बालकों को, राष्ट्र हित की दृष्टि से, योग्य शिक्षण देना होगा। इसके पश्चात् जो व्यक्ति पूर्ण विरक्त हो जायेंगे, उन्हें राष्ट्रिय प्रमुख व्यक्तियों के आदेशानुसार—राष्ट्रिय जनता को सन्मार्ग पर चलाने के लिए इतस्ततः घूम फिर कर, राष्ट्रोन्नति में भाग लेना होगा।

इस प्रकार हमारी समाजव्यवस्था, और राष्ट्र व्यवस्था सुन्दर रूप से चलती रहेगी। राष्ट्र के सब व्यक्तियों को कम से कम आठ घण्टा या समय-समय पर जैसा उचित हो, उसके निर्देशानुसार कार्य करना होगा। राष्ट्र के समस्त व्यक्ति कुछ न कुछ उत्पन्न करेंगे, और अपनी योग्यतानुसार सभी को, उत्पादक श्रम करते हुये समय का सदुपयोग करना होगा—जनता के मनोरञ्जन के लिये, राष्ट्र की ओर से ही, मनोरञ्जन शालायें रहेंगी। जितनी भी उत्पादक श्रम द्वारा उत्पत्ति होगी वह सब, राष्ट्र की ओर से खुले हुये, स्थानीय गोदामों में जायेगी और वहीं से सबको, यथायोग्य भोग्य सामग्री प्राप्त होगी। इस व्यवस्था के अनुसार न तो राष्ट्र के अन्दर बेकारी होगी, न फिजूल खर्ची। अधर्मी न होने के कारण सब व्यक्ति उचित

स्वस्थ रहेंगे, बड़े-बड़े न्यायालय और वाद-विवाद करने वालों की विशेष आवश्यकता न रहेगी।

इस प्रकार यह राष्ट्र, आदर्श राष्ट्र बन सकेगा। जिसमें लोगों का जीवन संयमी परस्पर सहायक होगा, और चुराने के लिये कोई वस्तु किसी के पास संगृहीत न रहने से चोरी का भाव व्यक्तियों में से दूर हो जायगा। चोरी न होने से असत्य भी लोगों में न होगा। लोगों का जीवन संयमी होने से ब्रह्मचर्य का पालन यथेष्ट रहेगा, लोभ और असंयम न रहने से, लोग स्वस्थ, दीर्घजीवी, सुखी और आनन्द का जीवन व्यतीत करने वाले होंगे, किसी प्रकार का कष्ट उनके ऊपर न आ पड़ेगा। किसी प्रकार की कर व्यवस्था का बोझ उन पर न होगा। क्योंकि सब व्यक्ति राष्ट्र के प्रति अपने आप को जिम्मेवार समझेंगे। जो व्यक्ति अति वृद्ध, अशक्त, अंगहीन होंगे, कुछ उत्पादक श्रम न कर सकेंगे, उनका बोझ सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़ेगा।

प्रश्न ६—दोष और उनका निवारण कैसे हो?

उत्तर—वर्तमान अर्थ-शास्त्री जिन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की है, जिनका अर्थशास्त्र धनिकों की दृष्टि में रखकर बना हुआ है, जिसके मूल में द्रव्यों के विनिमय करने के लिये माध्यम निश्चित करने का विचार विद्यमान है और जो सुगमता के लिये किसी द्रव्य के स्थान में धातु आदि सिक्के के रूप में निश्चित हुआ है। यह माध्यम

का विचार द्रव्यों के पारस्परिक विनिमय के लिये तो ठीक है, परन्तु इसके साथ इसके अपने दोष भी उपस्थित हुये हैं।

द्रव्यों का विनिमय सिक्के के रूप में जो चल रहा है उससे हम समझ रहे हैं कि उस सिक्के में बड़ी भारी शक्ति है और उस शक्ति को जो मनुष्य जितना अधिक संग्रह करता है वह उतना ही अधिक धनी कहलाता है। एक स्थान में शक्ति के अधिक संचय हो जाने से शिखर के दूसरे स्थान में उस संचय के मुकाबिले में गर्त्त को प्रकट करना है। जिसके पास अधिक शक्ति है वह उस शक्ति के प्रयोग से अधिक-अधिक शक्तिमान् होता जाता है और उसके अधिक शक्तिमान् हो जाने से उसके मुकाबिले में दूसरी ओर विशाल गर्त्त उपस्थित होता जाता है। शक्ति का संतुलन राष्ट्र में न रहने से तथा इस संतुलन के अधिक अधिक बिगड़ते जाने से राष्ट्र में विविध समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। इन समस्याओं को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किए जाते हैं वे सब भी साक्षात् या परम्परया उस शिखर और गर्त्त की समस्या को हल नहीं कर पाते, प्रत्युत अनेक स्थानों में शिखर और गर्त्त को अधिक पुष्ट करते हैं। शक्तिमान् पुरुष अपनी शक्ति के द्वारा लोगों के श्रम को खरीद लेते हैं। श्रमी लोग अशक्त होने के कारण सर्वदा के लिये उनके दास और कृपापात्र बन जाते हैं।

द्रव्य विनिमय का जो पूर्वोक्त विचार किया गया है उस विचार के द्वारा धन और श्रम का संतुलन नहीं रह सकता। धन का धन के साथ भी संतुलन नहीं होता, और श्रम के साथ धन का संतुलन तो सर्वथा ही नहीं होता। श्रम का श्रम के साथ तो होता है इसी विचार को लेकर गीता के अन्दर संतुलन (समत्वयोग) का सिद्धान्त प्रकट किया गया है। और यह सिद्धान्त साथ ही रक्खा गया है कि राष्ट्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों को राष्ट्र हित की दृष्टि से श्रमी होना चाहिए, अर्थात् बिना श्रम के कर्म के कोई मनुष्य न रहे। यह कर्म साधारण कर्म नहीं, परन्तु राष्ट्र हित की दृष्टि से यह कर्म करना लिखा है।

श्रीकृष्ण के समय में विभिन्न राष्ट्रों में अर्थ की विषमता के कारण वे ही सब दोष उत्पन्न हुए थे जिनके निवारण के लिये गीता में समत्व योग या संतुलन का सिद्धान्त दिखलाया गया है। इसी सिद्धान्त के आधार पर नीच-ऊंच का भेद-भाव हटाकर यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण जिस प्रकार का राष्ट्र चाहते हैं उसमें सबको आगे बढ़ने के लिये समान अवसर प्राप्त होगा। स्त्री, वैश्य और शूद्र भी अपनी योग्यतानुसार आगे बढ़ते हुये ऊँचे से ऊँचे पद को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। धन की विषमता के कारण उनके ये अधिकार उस समय के राष्ट्रों में उन व्यक्तियों में से छिन चुके थे, जिनका ऊपर निर्देश किया गया है। इसी विषमता के अन्दर इन लोगों की ऐसी

दुरवस्था होगई थी कि भरी सभा में एक कुलीन स्त्री अपहरण हो सकता था। इस विषमता को दूर करने लिये श्रीकृष्ण ने जाति भेद का निवारण समता के सिद्धान्त पर किया है। इसके साथ ही श्रम से उत्पन्न हुआ फल लोगों के अपने पास रहे तो भी विषमता उपस्थित हो जायगी, इसलिये गीता में सिद्धान्त किया है कि अपने किये श्रम का फल श्रम करने वाले को मिलेगा यह धारणा मन से निकाल देनी चाहिये। इसका यह तात्पर्य हुआ कि श्रम जनित वस्तुओं के द्वारा भी मनुष्यों में विषमता उत्पन्न न हो, अर्थात् व्यक्तिगत सम्पत्ति को श्रीकृष्ण ने राष्ट्र प्रबन्ध में से निकाल दिया है। तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि श्रम जनित सम्पत्ति किसके अधिकार में रहे ? श्रीकृष्ण इसका निर्णय देते हैं कि श्रम सबको करना पड़ेगा और उस श्रम से उत्पन्न हुआ फल वा सम्पत्ति राष्ट्र की अर्थात् उसकी शासन व्यवस्था के आधीन रहेगी। वह शासन व्यवस्था ही लोगों के योग क्षेम अर्थात् निर्वाह किया करेगी, इसके लिये शासन व्यवस्था की ओर से स्थान स्थान पर वस्तु भण्डार अर्थात् गोदामों की स्थापना होगी और वहां से सब व्यक्तियों को सुविधानुसार यथोचित भोग्य द्रव्य प्राप्त हो सकेगा।

गीता के ये राष्ट्र के मूल भूत सिद्धांत जब तक राष्ट्रिय जीवन में प्रकट नहीं होंगे तब तक राष्ट्र में किसी भी उपाय से शांति उपस्थित नहीं होगी। जितने भी उपाय किए जा रहे हैं वे उलझे हुए तागे को सुलझाने के लिये हैं, परन्तु एक ओर से सुलझाते हैं तो दूसरी ओर, दूसरी ओर सुलझाते हैं तो पहली ओर दृढ़ गांठ पड़ती जाती है। इसी प्रकार राष्ट्र में एक समस्या का हल होने नहीं पाता, तभी दूसरी समस्या खड़ी होकर व्याकुलता उत्पन्न करती है। गीता केवल हाथ जोड़ने की पुस्तक नहीं है, परन्तु वह उत्तम राष्ट्र निर्माण शास्त्र है। उसके सिद्धांत के अनुसार सिक्के का चलना बिल्कुल बन्द करना होगा और राष्ट्रिय जीवन में संतुलन लाना होगा। जब तक गीता के पूर्वोक्त सिद्धांतों का जीवन में प्रसार नहीं होगा, तब तक किसी भी अन्य उपाय से शांति नहीं होगी। इस सम्बन्ध में जो कठिनता उपस्थित होती हैं, वे सब कठिनताएं गुरुकुल की आधारभूत शिक्षण प्रणाली से दूर हो सकेंगी। उस शिक्षण प्रणाली में कर्म वा श्रम की राष्ट्र हित की दृष्टि से प्रधानता है, इसलिये गुरुकुल व्यवस्था के आधार पर जिस राष्ट्र का निर्माण होगा उस राष्ट्र में विषमता का दोष नहीं रहेगा और समता का जीवन उपस्थित होगा। इस प्रकार हमें दोष और उनका निवारण समझना चाहिए।

प्रश्न ७—गुरुकुल शिक्षण पद्धति का नाम क्या हो ?

उत्तर—गुरुकुल शिक्षा पद्धति का नाम धर्मनीति शिक्षा है। धर्म शब्द का अर्थ मर्यादा है। इस शिक्षा के द्वारा शिष्यों को मर्यादा में रहना सिखाया जाता है। जीवन के अन्दर मर्यादा के टूट जाने से राष्ट्र विशृङ्खलित हो जाता है। उसमें सुव्यवस्था नहीं रहती। सब लोग अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए कार्य करें और अपने जीवन के उद्योगों को राष्ट्र के अर्पण करने का अभ्यास करें तो इसी अभ्यास का नाम नीति वा सदाचार होता है। यह अभ्यास अर्थात् मर्यादा में रहने का क्रियात्मक अभ्यास पीछे से वा बलात्कार से नहीं होता। प्रारम्भ से ही गुरुकुल शिक्षालयों में बच्चों को कराया जाता है, और उनकी आदतें पकी हुई न होने से वे किसी भी अभ्यास को, मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षा देने से, सुगमता से ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए गुरुकुल शिक्षा प्रणाली शिक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रणाली है। जिसमें प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का अभ्यास, सुचारु रूप से अर्थात् कला के द्वारा बालकों की वृत्ति का विकास करते हुए, कराया जाता है। इस मुख्य विशेषता को लेकर इस शिक्षा प्रणाली का नाम धर्मनीति-शिक्षा रखना उचित प्रतीत होता है

प्रश्न ८—शिक्षकों का शिक्षण कैसा हो ?

उत्तर—इस शिक्षा क्रम में शिक्षकों को, शिक्षाओं का प्रकार स्वयं निकालना होगा। शिष्यों की विभिन्न वृत्तियों में कार्य करते हुए शिक्षक जब यह निश्चय कर लेंगे कि व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति के सम्बन्ध में विकसित करने वाली वृत्तियां शिक्षकों को अवश्य ही विकसित करनी हैं तो शिक्षकों को शिष्यों के द्वारा स्वयं ही शिक्षण का मार्ग मिलता चला जायेगा। इसलिए धर्मनीति के द्वारा दी जाने वाली राष्ट्रिय शिक्षा का शिक्षा क्रम कोई ठोस वस्तु नहीं बन सकता। शिक्षकों को मनोवैज्ञानिक तरीके से हर समय शिक्षण के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। जिन शिक्षकों को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षण का मार्ग निकालने का स्वभाव नहीं पड़ा हुआ है और जिनमें इस प्रकार की समयोचित सूझ नहीं है वे शिक्षण कला से अनभिज्ञ होने के कारण शिक्षक नहीं बन सकते।

प्रश्न ९----शिक्षण क्रम का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर:—धर्मनीति का शिक्षा क्रम जीवन निर्माण के लिए है, इसलिए जब से जीवन आरम्भ होता है तब से लेकर मृत्यु पर्यन्त संपूर्ण जीवन धर्मनीति का क्षेत्र है। इस शिक्षा क्रम में शिष्य का निर्माण होते हुए उसके शिक्षक का पहले निर्माण होता है। जीवन निर्माण का शिक्षा क्रम शिक्षा की अवधि पर नहीं बल्कि उसकी गहराई पर बल देता है। यह शिक्षा क्रम, जीवन भर के

लिए और जीवन के द्वारा दोनों ओर से हैं। इस शिक्षा क्रम में जीवन के सारे पहलुओं का समावेश है। जीवन में कोई भी छोटी बड़ी बात ऐसी नहीं है जिसका संबंध शिक्षा से न हो। शिक्षकों को ध्यान में रखना चाहिए कि सफाई, स्वच्छता, आरोग्य, स्वावलम्बी जीवन घर में व शिक्षालय में, माता पिता तथा गुरुजन तथा उसी प्रकार अन्य मान्य सज्जनों की सहायता करना और उन्हें मान देना आदि सब स्वभाव इस धर्म नीति के शिक्षण क्रम में हैं।

शिक्षा को हम इस दृष्टि से देखें तो वह जीवन के साथ चलने वाली वस्तु बन जाती है। सफाई आरोग्य, सामाजिक शिक्षण, काम और प्रार्थना, खेल-कूद और मनोरंजन ये सभी प्रवृत्तियां शिक्षा क्रम के विभिन्न विषय न होकर सर्वांगीण संतुलित, अविरोधी जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक प्रवृत्तियां हैं। इस प्रकार ये शिक्षा का साधक बन जाती हैं। व्यक्ति का सुसम्बन्धित विकास ही धर्मनीति का ध्येय नहीं, प्रत्युत राष्ट्रोन्नति की दृष्टि से एक ऐसे समाज का निर्माण करना उसका ध्येय है जिसका आधार न्याय पर हो और जिसमें सबके साथ समानता का व्यवहार हो। सबको योग्यतानुसार स्वतन्त्रता से आगे बढ़ने का अधिकार प्राप्त हो।

शिक्षा का यह आदर्श नया नहीं है, बहुत पुराने समय से आज तक के सब शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा के

इस आदर्श को सिद्धांततः स्वीकार किया है कि इस आदर्श को पूरा करने के लिए शिक्षा उत्पादक काम के द्वारा दी जावे। और यह शिक्षा परनिरपेक्ष स्वावलम्बी बने। सच्ची शिक्षा वह है जिसे पाकर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्मा के उत्तम गुणों का पूर्ण विकास कर सके और उन्हें प्रकाश में ला सके। साक्षरता शिक्षा का अन्तिम ध्येय नहीं है। उससे शिक्षा आरम्भ भी नहीं होती। यह तो सभी पुरुषों को शिक्षित करने में अनेक साधनों में से एक साधन मात्र है। साक्षरता अपने आप में कोई शिक्षा नहीं है। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि बच्चे की शिक्षा का आरम्भ उसी क्षण से हो जाता है जिस क्षण से वह कुछ न कुछ नया सर्जन करने के अभ्यास को ग्रहण करता है। स्वामी दयानन्द जी वैदिक विचारों के आधार पर शिक्षण का आरम्भ जन्म से भी पूर्व गर्भावस्था में और इच्छानुसार बालक उत्पन्न करने के लिए गर्भाधान से भी पूर्व अनुकूल तैयारी करने से लेकर शिक्षा का आरंभ मानते हैं। इस पद्धति से मन और आत्मा में उच्च से उच्च विचारों का विकास किया जा सकता है।

जो उद्योग-धन्धे यन्त्रवत् सिखाये जाते हैं वे वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जाने चाहिएं। बच्चों को उनके अनुभव के आधार पर यह समझाया जाए कि कौन सी क्रिया किस लिए की जाती है। इसके लिये उनके अनुभव में वृद्धि करनी चाहिये। इस शिक्षण पद्धति में शरीर-

श्रम का महत्त्व विशेष है, इसलिए शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों को शरीर श्रम का महत्त्व और गौरव समझायें, जिससे कि बालक शरीर श्रम को बुद्धि के विकास का एक अविभाज्य अंग और साधन मानना सीखें, और समझें कि अपने परिश्रम से अपना निर्वाह करने में राष्ट्र की सेवा है। अभिप्राय यह है कि बालकों को जो हस्त-कौशल सिखाया जाए वह उनको किसी प्रकार के उत्पादक कार्य करने की इच्छा से नहीं प्रत्युत उनकी बुद्धि का विकास करने के विचार से सिखाया जाए। ज्ञान के सभी क्षेत्रों में मन का विकास प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सारा ज्ञान किसी उद्योग के द्वारा ही दिया जाए।

बच्चों को जो हस्तोद्योग सिखाया जाए उसके द्वारा उन्हें पूर्णरूप से शारीरिक बौद्धिक और आत्मिक शिक्षा दी जाए। उद्योग की सभी क्रियाओं के द्वारा बच्चों के अन्दर जो भी अच्छा बीज है उस सबको विकसित करना है। धर्म नीति की शिक्षा का उद्देश्य कोई व्यवसाय सिखाना नहीं है किन्तु कला देकर मनुष्य बनाना है, अर्थात् अघड़ को सुघड़ बनाने वाली यह शिक्षा है। मनुष्यों को जीवन का रस प्राप्त करना है। धर्मनीति अपूर्ण मनुष्यों को सम्पूर्ण बनाती है। इस प्रकार की शिक्षा से बच्चे स्वावलम्बी बनते हैं। धर्मनीति मनुष्य को स्वाश्रयी बनाती है। स्वाश्रयी होना ही इसकी कसौटी है।

इस शिक्षण से असमृद्धि दूर होकर ग्रामों के लोग समृद्ध बनेंगे। समृद्धि बाहर से नहीं आवेगी परन्तु भीतर से प्रत्येक ग्रामीण के शुद्ध उद्योग से आवेगी। स्वावलंबी शिक्षण का सर्व प्रथम अर्थ यह है कि संस्थाओं में जो काम शिक्षा के माध्यम के रूप में चुना जाए उसके उत्पादन से उस संस्था के चालू खर्च का एक बड़ा भाग निकल सके। यह स्वावलंबन केवल अर्थ की दृष्टि से नहीं है बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक दृष्टि से भी है। इस शिक्षण से जो समाज या व्यक्ति तैयार हो जाते हैं वे आर्थिक, सामाजिक व नैतिक सभी दृष्टियों से स्वावलम्बी होते हैं। स्वावलम्बी व संतुलित जीवन बनाने की प्रवृत्ति भी इस शिक्षण का माध्यम बनती है। इसी के द्वारा विद्यार्थी को विषयों की आवश्यक जानकारी दी जाती है, उसकी आदतों, व्यवहारों व मनोवृत्तियों का सन्तुलित विकास किया जाता है। यही स्वाश्रयी धर्मनीति शिक्षण-पद्धति है।

धर्मनीति की शिक्षण-पद्धति यह मानती है, कि शिक्षा का भवन यदि पक्का करना है तो आधार गहरा होना चाहिए। इसलिए यदि बच्चों की शिक्षा को दृढ़ करना है तो यह शिक्षण उनके मां-बाप वा समाज से शुरू होना चाहिए। जिसमें सारे समाज की सफाई, स्वास्थ्य के नियम, मां का कर्त्तव्य, उद्योग-धन्धे, सामाजिक शिक्षण, शुद्ध मनोरंजन के उपाय आदि बातें आ

जायें। शिक्षणालय में रहने वाले बालकों को घर ग्राम व नगर का वातावरण भिन्न मालूम न हो। जब से बच्चा मां-बाप का आश्रय छोड़ चलने-फिरने लग जाता है तब से उसकी शिक्षा का क्षेत्र घर से शिक्षणालय तक बढ़ जाता है। घर, शिक्षणालय और गांव में बच्चे के शरीर व मन का पूर्ण विकास और नागरिकता की पहली तैयारी ही इस शिक्षण की योजना में बच्चों के शिक्षण का कार्य-क्रम है। शिक्षण के इस कार्यक्रम में बच्चों का शारीरिक पोषण, स्वास्थ्य का निरीक्षण, व्यक्तिगत और सामाजिक सफाई तथा आरोग्य एवं अपना कार्य स्वयं करने का स्वभाव, सामाजिक शिक्षण और काम, खेल की सर्जनात्मक और रचनात्मक प्रवृत्तियाँ, भाषा कला और संगीत में आत्मा का प्रकाश, प्रकृति निरीक्षण आदि बच्चों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें सम्मिलित हैं।

साधारण शिक्षणालय और उच्च शिक्षणालय के शिक्षण का प्रयोग भी किसी न किसी उत्पादक काम के द्वारा विद्यार्थी को ज्ञान और विज्ञान के अधिक ऊँचे स्तर तक पहुँचाने के लिए है और साथ ही साथ उन्हें अपनी पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेवारी के लिए तैयार करना है। इस शिक्षण प्रणाली से यह अपेक्षा की जाती है कि विद्यार्थी अपने शिक्षा के समय ही अपने खाने और कपड़े की समस्या को अपने काम से ही पूरा कर सके। इस प्रकार विद्यार्थी समाज की किसी न किसी उपयोगी

प्रवृत्ति के द्वारा अपने परिवार के लिए आवश्यक कार्य कर सकेगा। और उत्तरदायी नागरिक के ढङ्ग से सुसंस्कृत, पारिवारिक व सामाजिक जीवन बना सकेगा। इसके पश्चात् शिक्षा में वह शिक्षा है जो देश व मानव-जाति की सच्ची आवश्यकता को पूर्ण करे, और साथ-साथ विशुद्ध ज्ञान साधन की ऊँची श्रेणी स्थापित रखे।

प्रश्न १०—धर्म नीति के शिक्षण का ध्येय क्या है?

उत्तर—१. सामाजिक २. व्यक्तिगत विकास।

१. पहिला ध्येय—भारत के सब बालक-बालिकाएँ उसकी नागरिकता के लिये तैयार हों। अपने सब गुणों व प्रवृत्तियों के विकास से शुद्ध संतुलित और सुसंगत जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। साथ साथ इस जीवन के सामाजिक और नैतिक पहलुओं को समझें। इस ध्येय को सिद्ध करने के लिये आवश्यक होगा कि शिक्षक ऐसा वातावरण और कार्यक्रम बालक-बालिकाओं के लिये उपस्थित करें कि आदर्श समाज का प्रत्यक्ष अनुभव लेते हुये शिक्षा ग्रहण कर सकें। स्वार्थ के लिये व्यक्तिगत-विकास का धर्मनीति के शिक्षण क्रम में कोई स्थान नहीं है। व्यक्तिगत विकास के सम्बन्ध में प्रत्येक बात पर अपने आप सोचने की शक्ति और साहस, सच्ची घटना को मानने की और उसमें हेर-फेर न करने की ईमानदारी, घटना और

परम्परा को सत्य की कसौटी पर जाँचने के लिये आवश्यक धैर्य और निष्पक्षता, ये सब गुण व्यक्तिगत विकास में अपेक्षित हैं। इनका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विभिन्न प्रकार के आचरण करने वाले लोग आपस में प्रेम के साथ रहकर काम कर सकेंगे और एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करेंगे। इसके लिये आवश्यक है कि जीवन में सादगी और सरलता हो, जो सत्य की खोज करता रहे उसे जीवन के अनावश्यक भारों से मुक्त होना पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी और कर्मकाण्ड का उपयोगिता की दृष्टि से महत्व सबसे ऊँची वस्तु है। इस सम्पूर्ण कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि शिक्षालय का काल समाप्त करके सभी व्यक्ति इस आदर्श पर पहुँच ही जावेंगे। परन्तु धर्म नीति के शिक्षण क्रम में यह आदर्श निहित है कि इसी आदर्श के अनुसार हमें शिक्षा देने का आदर्श नियुक्त करना चाहिये। शिक्षण के कार्यक्रम में शिक्षा के माध्यम के रूप में चार-पाँच प्रवृत्तियों को चुना गया है—

१. शुद्ध और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने का अभ्यास

२. स्वावलम्बन का अभ्यास।

३. कम से कम किसी एक उत्पादक आधारभूत हस्तोद्योग का अभ्यास।

४. समाज में नागरिकता का अभ्यास।

५. रचनात्मक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का अभ्यास।

प्रथम विभाग में व्यक्तिगत और सामाजिक आरोग्य के लिये आवश्यक आदतों और विकास का ही मुख्य स्थान

रहना चाहिये। इन प्रवृत्तियों के द्वारा शरीर शास्त्र, आरोग्य शास्त्र और आहार शास्त्र का सामान्य ज्ञान दिया जाना चाहिये।

दूसरे अभ्यास में इसका महत्व ध्यान देने योग्य है क्योंकि यह चरित्र के विकास का प्रभावशाली साधन है।

तीसरे अभ्यास में बच्चों के शारीरिक और बौद्धिक विकास के लिये अनुकूल और आवश्यक ज्ञान देना उपयोगी है। शिक्षाक्रम में दूसरे विषयों का सम्बन्धित ज्ञान देने का भी यह मुख्य साधन है।

चतुर्थ अभ्यास में समग्र मानव जाति में समीपवर्त्ती व्यक्ति के कर्मकाण्ड के लिये मिल-जुलकर काम करने के लिये आवश्यक साधन वा मनोवृत्ति का विकास करना ही नागरिकता के अभ्यास का मुख्य ध्येय है।

पाँचवें अभ्यास में बच्चों की कलात्मक प्रवृत्तियों का विकास करने की अपेक्षा की जाती है। इस अभ्यास में खेल-कूद, अभिनय, संगीत, भावाभिव्यक्ति, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक उत्सवों का मनाना, साहित्य रचना आदि विविध और विचित्र प्रवृत्तियों का समावेश है।

प्रश्न ११—धर्म नीति के शिक्षण की परख किस प्रकार हो?

उत्तर—इस परख में आठ विभाग हैं। १. साफ और स्वस्थ जीवन बिताने की योग्यता, २. अन्न वस्त्र व आश्रम के स्वावलम्बन की योग्यता ३. आधारभूत हस्त-कौशल में योग्यता ४. ज्ञान-विज्ञान में योग्यता ५. नागरिकता

में योग्यता, ६. भाषा की योग्यता ७. गणित में योग्यता ८. सर्जनात्मक और कलात्मक प्रवृत्तियों में योग्यता।

प्रथम विभाग में शरीर का संतुलित और उचित विकास, व्यायाम, प्राणायाम और आसनादि के द्वारा अभीष्ट है। इस विकास में शरीर स्वस्थ और फुर्तीला हो। ग्राम सफाई के आधारभूत स्वभावों को जानता हो। स्थानिक समाज में सफाई का कार्यक्रम बनाने की योग्यता हो। मानव शरीर के विविध अङ्गों और अवयवों के काम, स्वास्थ्य रक्षा के आधारभूत नियम और स्थानिक वस्तुओं से संतुलित आहार बनने का साधारण ज्ञान रखता हो। सामान्य प्राथमिक उपचार जानता हो। रोगी की साधारण शुश्रूषा कर सकता हो। स्थानिक जड़ी बूटियों और घरेलू दवाइयों से परिचित हो।

दूसरे विभाग की योग्यता में संतुलित आहार के लिये आवश्यक पदार्थ उत्पन्न कर सकता है। कपास बोना और उससे अपने लिये वस्त्र बना सकना, भोजन बनाना, परोसना और सुरक्षित रखना। भोजन के व्यय का अनुमान-पत्रक बना सकना और खर्च का हिसाब रख सकना। घरेलू शस्त्रास्त्रों के उपयोग और सुरक्षा की जानकारी रखना। साइकिल पर चढ़ने और उसे अच्छी हालत में रख सकने की योग्यता।

तीसरे विभाग की योग्यता में रसायन शास्त्र और प्राणिशास्त्र के जिन सिद्धान्तों से हमारा काम पड़ता है उनका सामान्य परिचय हो।

चौथे विभाग की योग्यता में अपने चारों ओर प्राकृतिक परिवेश में और दैनिक जीवन की प्रवृत्तियों में विज्ञान-गणित और अन्य शास्त्रों के जिन आधारभूत सिद्धान्तों का उपयोग होता है उनका सामान्य परिचय हो।

पाँचवें विभाग की योग्यता में समष्टि जीवन का महत्त्व और व्यष्टि जीवन का समष्टि जीवन के लिये अर्पण का सिद्धान्त समझना। समर्पण के जीवन, अथवा यज्ञ भावना से अर्थात् सहकारिता से अनेक सामाजिक कार्यों को करने के विचार में निपुण।

६. खुली सभाओं में बिना हिचकिचाहट साफ और स्पष्ट भाषा में बोलने की योग्यता रखता हो। मातृभाषा के साहित्य से परिचित हो। वर्तमान पत्र और साप्ताहिक मासिक पत्र पत्रिकाओं का उपयोग कर सके। अभिधान और कोष का उपयोग जानता हो।

७. गणित में इतनी योग्यता हो कि दैनिक कार्य से सम्बन्ध रखने वाले सारे हिसाब-नाप और तोल आदि ठीक-ठीक और शीघ्रता से कर सके। ज्यामिति (रेखा-गणित) की सरल आकृतियों से और नियमों से परिचित हो तथा सुन्दर चित्रकारी करने में इनका उपयोग कर सके।

८. उत्सव, त्योहार, सभा समिति के अवसर पर शिक्षणालय या सभास्थल को सुरुचि के साथ सजा सकता हो। अपने देश की परम्परागत कला आदि से परिचित हो। समाज के लिये शुद्ध मनोरञ्जन के कार्यक्रम की व्यवस्था कर सके।

प्रश्न १२:—शिक्षकों के लिए आवश्यक निर्देश कौन से हैं?

उत्तर १—शिक्षक, आरोग्य और सफाई को, सच्ची शिक्षा देने के लिए समग्र शिक्षा के कार्यक्रम में प्रधान स्थान देवें। शरीर कपड़े और आस-पास की दैनिक सफाई के नियमित अभ्यास के साथ मन की शुद्धि का गहरा सम्बन्ध समझें।

२—स्वच्छता, शीघ्रता और शुद्धता (पूर्णता) इन तीनों बातों को छोटे-बड़े सभी कार्यों में चाहे वह व्यवहार के हों या पढ़ाई के, अभ्यास डलवाने का प्रयत्न करें। इनके सम्बन्ध में नोटबुक रख कर व्यक्तिगत एक-एक काम के प्रतिदिन नम्बर देने चाहियें। जिससे शिक्षक और शिष्य दोनों की प्रगति का ज्ञान होता रहे कि कौन सा छात्र किस दिशा में उन्नति कर रहा है और किस दिशा में न्यून है? स्वभाव बन जाने तक अभ्यास की इस प्रकार जांच करते रहना आवश्यक है।

३—शिक्षकों का कर्तव्य है कि बच्चों में खाने पीने व वस्त्र आदि के सम्बन्ध में समानता और व्यवस्था की आदत डालें और जो कुछ खावें-पीवें उसके सम्बन्ध में सहवासियों का ध्यान भी छात्र रखें। गुरुकुल के छात्रावास, विद्यालय और अन्य प्रकार की उत्पत्ति यद्यपि वहाँ के निवासियों की समान है तथापि अध्यक्ष की आज्ञा के बिना उसको लेने का प्रयत्न न करें। इससे बालकों में

शिष्टता, अनुशासन की वृत्तियों का विकास होगा।

४—शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि सब कुलवासी अपने आपको इस प्रकार चलावें कि कोई रोगी रहे ही नहीं, क्योंकि किसी के रोगी होने से सार्वजनिक हित की हानि का पाप उत्पन्न होता है। परन्तु यदि कोई रोगी हो जावे तो उसकी सहानुभूति परिचर्या आदि में भाग लेना सबको समयानुसार आवश्यक समझना चाहिये। क्योंकि न जाने किसके ऊपर कब विपत्ति आ जावे। इससे पारस्परिक प्रेम, सहायता और समानता का भाव उत्पन्न होता है।

५—शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि शिक्षा क्रम के मुख्य तीन पहलुओं पर विशेष ध्यान दें। १. शुद्ध और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये कर्त्तव्यों की खोज और उनका पालन। २. अपने आस पास के स्थानों की सफाई और सफाई के साधनों की रक्षा। ३. घर, विद्यालय या गाँव में किसी के रुग्ण होने पर या किसी आकस्मिक दुर्घटना के घट जाने पर यथाशक्ति निर्देश और उसका पालन।

६—शिक्षकों के लिए आवश्यक है कि उनका स्वास्थ्य अन्यों की अपेक्षा अधिक ऊंचा हो। उनमें निरुत्साह तथा चिन्ताशीलता न हो। वाणी में प्रेम और ओजस्वी भाव रहे। आँखों में आकर्षकता रहे। किसी प्रकार का व्यसन शिक्षकों में न हो।

७—शिक्षणीय विषय के लिए आवश्यक तैयारी लिख कर शिक्षणालय में आना चाहिए। शिक्षण देने से

पहले शिक्षक को पता होना चाहिए कि उन्होंने किस विषय का कौन सा अंश किस प्रकार सब विद्यार्थियों के या किसी विशेष कमजोर विद्यार्थी के मन में बैठा देना है और उस प्रकार शिक्षण देते हुए विद्यार्थी की किस मनोवृत्ति को उन्नत करना है।

८—विद्यार्थियों के औद्योगिक कार्य में शिक्षक भी क्रियात्मक भाग लें, जिससे विद्यार्थियों में अपने-अपने कार्यों में अधिक रुचि और क्रियाशीलता बनी रहे।

९—शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि शिक्षा का प्रत्येक विषय उद्योग के साथ मिला कर उसका महत्त्व अर्थात् जीवन के साथ उसका सम्बन्ध प्रगट करते हुए शिक्षण दें।

१०—शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि विद्यार्थियों की वस्तुओं को व्यवस्थित रखने का स्वभाव डलवावें। दिन में अनेक बार विद्यालय या आश्रम में निर्दिष्ट समयों पर वस्तुओं को सुव्यवस्थित करा दें, और सुव्यवस्थित रूप में रखने के लाभ समय २ पर समझाते रहें।

११—शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि बालकों में परस्पर निर्दोष स्पर्धा उत्पन्न करें और विद्यार्थियों की मानसिक प्रगति का लेखा रखें और मास के अन्त में प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी प्रगति के अंक सुनाते रहें।

१२—शिक्षकों को चाहिए कि वे २४ घण्टे विद्यार्थियों के साथ रहते हुए, विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों का निरीक्षण करते रहें क्योंकि शिक्षण-शास्त्र की दृष्टि से

आश्रम और विद्यालय दो पृथक् वस्तु नहीं हैं।

१६—शिक्षकों को यह नहीं समझना चाहिए कि वे शिक्षण-कला में पूर्ण हो चुके हैं। क्योंकि विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों को समझने की कला इतनी विषम है कि एक एक को समुन्नत करने के लिए उचित मार्ग का निकालना सुगम नहीं होता, इसलिए शिक्षकों को शिक्षण-कला में पूर्णता प्राप्त करने के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती कि अमुक उन्नति के बाद शिक्षक पूर्ण हो जाता है। इसलिए शिक्षकों को समझना चाहिए कि जब उनको शिष्य मिल जाते हैं तो वस्तुतः शिष्य उनकी प्रगति में सहायक होते हैं और उनकी प्रगति के प्रकाश से शिष्यों की प्रगति होती है। इसलिए शिक्षकपना अमुक घण्टों तक कार्य करने से अमुक वेतन प्राप्त करने से पूर्ण नहीं हो जाता। जो शिक्षक समय और वेतन की दृष्टि से अपने शिक्षकपने को तोलता है वह वस्तुतः शिक्षक नहीं है। उनको शिक्षण संस्थाओं के कार्य से पृथक् ही रहना चाहिये। सच्चे शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिक्षण के क्षेत्र में अपनी कला का विकास करते हुये राष्ट्र के बालकों को उन्नत मनोवृत्तियों वाला सुशिक्षित व्यक्ति बना देने का अपना कर्तव्य समझे। वस्तुतः शिक्षण कला प्राचीनकाल से बढ़ती बढ़ती केवल मानव समाज तक सीमित नहीं रही, प्रत्युत प्राणिमात्र को समुन्नत और सुशिक्षित करने के लिये लागू हो चुकी है। इसी के कारण गाय, बैल, भैंस, ऊँट, घोड़ा, हाथी, कुत्ता, सांप

आदि पशु सुशिक्षित होकर उन्नतवृत्ति वाले देखे जाते हैं। इसलिये किसी भी शिक्षक को राष्ट्रोन्नति की दृष्टि से प्रवेश करना चाहिये, समय और धन की मर्यादा से बद्ध होकर नहीं।

शिक्षण भी अन्य अनेक व्यसनों की तरह एक प्रकार का व्यसन है। अन्य व्यसनों का तो निषेध किया जाता है, किन्तु इस व्यसन को बढ़ाया जाता है। अनेक शिक्षक मनुष्य दूसरों को शिक्षित किये बिना रह ही नहीं सकते। ऐसा उत्तम व्यसन जिन मनुष्यों में होता है, वे ही शिक्षक कहलाने योग्य हैं। वे ही शिक्षण संस्थाओं के लिये लाभ-दायक हो सकते हैं अन्य नहीं। इन्हीं को शिक्षणसंस्थाओं में कार्य करने के लिये आगे आना चाहिये, अन्यों को नहीं। ऐसे शिक्षक धन और निर्दिष्ट समय के लिये शिक्षण का कार्य नहीं करते, अपितु वे शिक्षण के द्वारा आत्मा की उन्नति समझते हैं।

प्रश्न १३—क्या शिक्षाक्रम के विषयों का कोई वर्गीकरण है ?

उत्तर—हमने शिक्षाक्रम को पांच विभागों में विभक्त किया है। इन विभागों में वर्णित शिक्षाक्रम के द्वारा विद्यार्थी को पांच प्रकार की उन्नति करनी होती है। (१) शारीरिक (२) मानसिक (३) बौद्धिक (४) आत्मिक और (५) सामाजिक।

(१) शारीरिक—शुद्ध और स्वस्थ जीवन का अभ्यास क्रीडा तथा व्यायाम।

(२)मानसिक–आर्यभाषा, संस्कृतभाषा दोनों का साहित्य, चित्रकला, संगीत, मनोरञ्जन।

(३) बौद्धिक—अर्थात् मानव जीवन का सिद्धान्त और आत्मोन्नति के साधन—

मूल उद्योग का अभ्यास, खेती,गोशालाकर्म (अनन्त-स्वालम्बन) कताई, बुनाई आदि (वस्त्रस्वालम्बन) उपयोगी गणित।

(४) आर्य सिद्धान्त का ज्ञान।

(५) सामाजिक विज्ञान—वर्तमान जगत् की स्थिति से परिचय. अन्य सम्पूर्ण विषयों से सम्बन्ध, उनको पुष्ट करने वाला इतिहास भूगोल आदि।

वर्गीकरण पर विवेचन

१—इस वर्गीकरण के प्रथम विभाग में शुद्धता, स्वच्छता और स्वस्थता इन तीनों बात का जीवन में अभ्यास शिक्षकों ने व्यक्तियों को कराना है। बालकों के शरीर का विकास सुन्दर और उत्तमरूप में होना चाहिये। शरीर को, अपने रहने के स्थान को और अपने निवास-स्थान को शुद्ध, स्वच्छ, रोगरहित करने का अभ्यास करना है। इससे बालकों में स्वस्थजीवन व्यतीत करने की वृत्ति जाग्रत करनी और करवानी है। स्वस्थता के कारण

बालकों में स्फूर्ति, प्रसन्नता प्रकट होनी चाहिये। उसके लिये उन्हें क्रीडा, खेल-कूद, व्यायाम, आसन, प्राणायाम, व्यूहरचना, सामूहिक और व्यक्तिगत लेजिम, गद्का, बनैठी, छुरे भाले आदि का प्रयोग, लाठी चलाना, स्तूप-निर्माण आदि का अभ्यास कराया जाना चाहिये। इससे शरीर में समतुलन होगा। सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियाँ बढ़ेंगी। सम्पूर्ण शिक्षण का परिणाम यह होगा कि बालकों का शारीरिक विकास व उन्नति अच्छे प्रकार होगी। शरीर की उन्नति को प्रथम विभाग में इसलिये रखा गया है, क्योंकि कहा है "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" उत्तम शरीर ही सबसे पहिला धर्म का कारण है

२—शिक्षण का दूसरा विभाग मानसिक उन्नति से सम्बन्ध रखता है। इस शिक्षण में वृत्तियों का ग्रहण और उनका प्रकाशन दो वस्तुओं में सन्निविष्ट है। वृत्तियों का ग्रहण भाषाओं के द्वारा ही होता है जिस में वर्तमान समय की और भूतकाल की दोनों प्रकार की वृत्तियां पठनपाठन से सम्बन्ध रखती हैं। उस के लिये भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है।

भाषाओं में संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा की प्रधानता है। शब्दों का शुद्ध स्वरूप और उच्चारण विना संस्कृत भाषा के अभ्यास के नहीं हो सकता। अतः संस्कृत भाषा का सिखाया जाना और उसके आधार पर आर्यभाषा का सिखाया जाना आवश्यक है। भाषा के द्वारा मनोवृत्तियों के शुद्ध रूप को ग्रहण करने के लिए

संस्कृत साहित्य और साथ ही साथ हिन्दी साहित्य पढ़ाया जाना आवश्यक होता है। जिन शुद्ध मनोवृत्तियों को विद्यार्थी ग्रहण करता है उनके प्रकाश किये बिना अपने तथा समाज के जीवन से उनका सम्बन्ध ज्ञात नहीं पड़ता। इस लिए भाषा के साथ भावों का ग्रहण और प्रकाशन दोनों को दूसरे विभाग में रखा गया है।

३—शिक्षा का तीसरा विभाग बुद्धि का विकास है। बुद्धि के विकास में कारीगरी, गणित और सामान्यविज्ञान सम्मिलित होना चाहिये। क्रियात्मक अभ्यास के द्वारा विद्यार्थी में सूझ और समझ शक्ति बढ़ती है—कि क्या करने से क्या होता है। जिस परिणाम को विद्यार्थी लाना चाहता है उसके लिये उस में सूझ पैदा होती है कि उसे क्या करना चाहिये। यही चीज गणित के द्वारा भी सिखलाई जाती है और दोनों का मेल सामान्य विज्ञान में होता है। ऐसा मेल होते हुए विज्ञान उद्योग में सहायक हो जाता है। इस प्रकार विद्यार्थी की बुद्धि का विकास होता है। परन्तु यह बुद्धि का विकास कोरे तर्क को ही उत्पन्न नहीं करता, किन्तु बाह्य और आन्तर जीवन के मार्ग का पथ प्रदर्शन करते हुए आत्मिक विकास के रूप में बदल जाता है। इस लिए शिक्षा के तीसरे विभाग को हम आत्मिक उन्नति का विभाग कहते हैं।

४—चौथा विभाग आर्य सिद्धान्त का विभाग है। सत्यनिर्णय के लिए तर्कना का प्राधान्य-विशेष है। अतः

इस विभाग को हम ने बौद्धिक-विकास के साधन के रूप में ग्रहण किया है।

५. शिक्षाक्रम का पाँचवाँ विभाग सामाजिक उन्नति का है। पूर्वोक्त जितने विभाग आ चुके हैं उन सबका परिणाम सामाजिक उन्नति में है। अपने देश की और दूसरे देशों की वर्तमान काल और भूतकाल में सामाजिक उन्नति का क्या क्या स्वरूप रहा और उसमें वहाँ के निवासियों का क्या क्या कर्तव्य रहा; इस सबका ज्ञान इतिहास, भूगोल और नागरिकता से होता है। इसलिए सब विभागों का परिणाम-भूत विभाग समाज उन्नति का विभाग होने से यह अन्तिम विभाग होता है।

प्रति विषय शिक्षकों को निर्देश।

१—शिक्षक इस बात का ध्यान रखें कि वे बच्चों को स्वस्थ, और शुद्ध जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते समय इसके नैतिक व सामाजिक पहलुओं को भी अपने सामने रखें। शिक्षणालय में विद्यमान, औषधालय में बच्चों से दवाई बनवाना और रोगी परिचर्या सिखलावें।

२—शिक्षक ध्यान रखें कि छोटे बच्चों से स्वच्छता और स्वास्थ्य की मनोवृत्ति के लिए आवश्यक स्वभाव उत्पन्न करें न कि उन्हें विषय ज्ञान देना है। यह शिक्षा क्रम पढ़ाई का विषय नहीं, बल्कि बच्चों के विकास का केन्द्र है। यदि बच्चों की ओर से कोई प्रश्न आये तो सरल शब्दों में इन कामों का संबंधित ज्ञान देवें। स्वास्थ्य

के सम्बन्ध में शरीर विज्ञान की जो शिक्षा दी जावे वह सब सरल शब्दों में दी जानी चाहिए, वैज्ञानिक शब्दों में नहीं। प्रत्येक कार्य पर शिक्षक की दृष्टि रहनी चाहिए कि वह कार्य दिए हुए निर्देश पर हुआ है कि नहीं। दैनिक कार्य की प्रत्येक प्रवृत्ति का इस भाँति अध्ययन करें जिससे आरोग्य और स्वच्छता के जिन सिद्धान्तों पर शुद्ध और स्वस्थ-जीवन-विज्ञान निर्भर है उनसे विद्यार्थियों का परिचय हो।

यथा समय ब्रह्मचर्य रक्षा के विषयों का अध्ययन प्रारम्भ किया जाए। बारह वर्ष की आयु के पश्चात् किशोरावस्था में शारीरिक और मानसिक जो विशेष परिस्थिति होनी संभव हो उससे पहिले ही सरल और गंभीर शब्दों में ब्रह्मचर्य संबंधी ज्ञान देना अभीष्ट है। ताकि किशोरावस्था में बालक और बालिकाओं में ब्रह्मचर्य पालन के लिए उपयुक्त ज्ञान और श्रद्धा हो। अस्वाभाविक ढंग से बच्चों को यह ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए।

वनस्पति शास्त्र, प्राणिशास्त्र, शरीर शास्त्र के द्वारा उनको खेती बागबानी या सफाई आदि प्रवृत्तियों के साथ साथ स्वाभाविक ढंग से ब्रह्मचर्य संबंधी ज्ञान दिया जाना चाहिए। साथ २ जीवन की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में श्रद्धा और उत्तरदायित्व के बोझ का विकास होना चाहिए।

१—शिक्षालयों में शिक्षक पांचवीं श्रेणी तक

बागबानी का काम आवश्यक रखें। अगली तीन श्रेणी में विद्यार्थी को इतना अभ्यास हो जाना चाहिए कि वह अपने शारीरिक तथा मानसिक विकास से आजीविका प्राप्त करने में समर्थ हो और उद्योग द्वारा शिक्षणालय का आर्थिक उत्तरदायित्व उठाने का प्रयत्न कर सकें।

४—औद्योगिक श्रम अन्न स्वावलंबन, वस्त्र स्वावलंबन व उपकरणों की सामान्य मरम्मत की दृष्टि से होना चाहिए। शिक्षकों को ध्यान रखना चाहिए कि उद्योग के उपकरण नियत स्थान से लिए जावें और कार्य समाप्ति पर नियत स्थान पर रखे जावें। प्रत्येक कार्य की समाप्ति के पश्चात् प्रतिदिन काय का हिसाब निकालना चाहिए कि कितना कार्य हुआ कितना करना चाहिए और कितना शेष है। इस प्रकार कार्य का वेग वर्ष भर का निकाल कर मालूम करना चाहिए। कार्य के वेग का निर्देश करके विद्यार्थियों को सूचित करना चाहिए कि उनके कार्य की गति कितनी है। शुद्धता, पूर्णता, शीघ्रता की दृष्टि से प्रत्येक विद्यार्थी के अङ्क प्रति दिन कार्य समाप्ति पर देने चाहिएं। जिन कार्यों में एक साथ छोटे बड़े परस्पर सहायकों की आवश्यकता हो उनमें उनके किए हुए कार्यों का निरीक्षण करते हुए बालकों की अवस्था को नहीं भूलना चाहिए।

५—बच्चों के उच्चारण में अनेक अशुद्धियां होती हैं, इसलिए पाणिनि के बनाए वर्णों के उच्चारण के नियम समझाते हुए विद्यार्थियों को वर्णों के उच्चारण

का अभ्यास डलवाया जाय। जिह्वा को कहाँ किस प्रकार लगाना, इसका निर्देश करते हुए उच्चारण ठीक कराया

जा सकता है।

इसी प्रकार संयुक्त अक्षरों को बोलने का नियम स्पष्ट समझाकर और बुलवाकर समझाना चाहिए। उच्चारण ठीक करने के लिए किसी औषध विशेष की आवश्यकता हो तो उसका प्रयोग करना चाहिए। काम के सिलसिले में जब बच्चों में लिखने और पढ़ने की आवश्यकता प्रतीत हो तब लिखना-पढ़ना आरम्भ कराया जाए। विद्यार्थियों को आरम्भ से ही यह अभ्यास करना चाहिए कि मौखिक कहानी, कविता और मनोरंजन आदि के द्वारा अपने देखे और सुने को शिष्ट भाषा में प्रकाशित कर सकें।

शिक्षक ध्यान रखें कि श्रेणी में पढ़ाते समय, समाज में या सभा समितियों में बोलते समय विद्यार्थियों के शुद्ध व स्पष्ट और निर्भयता के साथ बोलने में क्रमशः वृद्धि हो रही है या नहीं। औद्योगिक कार्यों के सिलसिले में विद्यार्थियों को गणित के कार्यक्रम का अभ्यास कराना

चाहिए। शिक्षकों को चाहिए कि सामान्य ज्ञान में जिज्ञासा उत्पन्न करें। सृष्टि में जो कुछ हो रहा है उसमें वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य-कारण का सम्बन्ध ज्ञात करने का स्वभाव डलवाना चाहिए। विज्ञान के द्वारा प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप जानने की इच्छा पैदा करनी चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी को दैनिक काम में विशेष अभिरुचि पैदा हो जायगी। किसी अच्छे शिक्षक को चाहिए कि बच्चों के प्रश्नों और आलोचनाओं से जो अवसर प्राप्त करे उसी में कुछ न कुछ बतलाता रहे। और जितने भी ज्ञानवान् छोटे-बड़े कीट-पतंग, वृक्ष-वनस्पति पौधे इत्यादि जड़ और चेतन पदार्थ हैं उन सब का जीवन संबद्ध है तथा परस्पर सापेक्ष है, इसलिए विश्व के पदार्थों का उपयोग समझाते हुये सर्वत्र मित्र-भाव से व्यवहार करने का स्वभाव डलवायें।

शिक्षकों को ध्यान में रखना चाहिए कि इतिहास, भूगोल, समाज शास्त्र या श्रम शास्त्र जीवन से पृथक्-पुस्तकों के विषय नहीं हैं अपितु ये प्रकृति और मानव के जीवन प्रवाह की निरन्तर धारायें हैं। इन में विभिन्न जीवनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान

होता है। पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से यह सब नागरिक शास्त्र कहलाता है। अत: नागरिक शास्त्र का अभ्यास = सामाजिक उत्तरदायित्व के बोध का समुचित विकास होने से बालक-बालिकाओं को इस का अभ्यास हो सकता है। इस लिये नागरिक शास्त्र का अभ्यास बालक-बालिकाओं को शिक्षणालय के जीवन के द्वारा कराना चाहिए। जिस से वे समझें कि उन का एक दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है। पारस्परिक सह-भाव के समझने से अन्न-स्वावलंबन और वस्त्र-स्वावलंबन का कार्य भी इतिहास, भूगोल और समाज शास्त्र के अध्ययन का एक साधन बन सकता है।

इस शिक्षाश्रम में ऐतिहासिक राजाओं के युद्धों की कहानियों और उन से सम्बन्धित तारीखों का कोई महत्व नहीं। इस शिक्षा-क्रम में विभिन्न धर्मों के संस्थापकों और साधु-सन्तों के दिवस मनाने के कार्य-क्रम पर विशेष बल दिया जाना चाहिए, जिस से कि नागरिकों को उनके कर्त्तव्य का बोध मिले और मानव संस्कृति का विकास हो। महापुरुषों के जीवन से एकता और मैत्री के प्रचार का लाभ होता है। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संग्राम करने की शक्ति जागृत होती है। शिक्षकों को चाहिए कि बच्चों में नागरिकता का बोध पैदा करने के लिये व्यक्तिगत और सामाजिक उदारदायित्व को जागृत करें।

बच्चों के शिक्षकों का और बालकों का सम्बन्ध इतना निकट हो कि शिक्षणालय और घर दोनों मिलकर बच्चों के सामाजिक शिक्षण का साधन बनें। शिक्षक बालकों को उत्सव = त्यौहारों का पालन सिखावें अर्थात् निमन्त्रण देना, उत्सव का मंच सजाना, भाषण देना, संगीत खेल व मनोरंजन का कार्य-क्रम रखना और उत्सव के पश्चात् उसका विवरण लिखकर स्थानीय पत्रिका में प्रकाशित कराना। बालकों से शिक्षणालयों में ६ प्रकार के उत्सव मनाने का अभ्यास कराया जा सकता है। १. धार्मिक उत्सव २. राष्ट्रिय उत्सव, ३. सामाजिक उत्सव, ४. सांस्कृतिक उत्सव, ५. प्राकृतिक उत्सव ६. शिक्षणालय सम्बन्धी उत्सव।

विद्यार्थी को स्वयं-सेवक होने का अभ्यास डलवाया जावे। शिक्षकों को चाहिये जो कुछ सिखलाया जावे उसे क्रियात्मक रूप दे दें, इस से विद्यार्थी को सुगमता से ज्ञान प्राप्त होता है और मनोरंजन भी रहता है। कभी २ विद्यार्थी को प्रकृति निरीक्षण, ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण के लिए आस-पास के ऐतिहासिक स्थानों में पर्यटन के लिये ले जाना चाहिए और शिक्षणालय में दैनिक साप्ताहिक व मासिक पत्र-पत्रिकाएँ मंगवावें, उसमें जो विशेष पठनीय हों उस का शीर्षक–प्रतिदिन कृष्ण-फलक = ब्लेक-बोर्ड

पर लिख दिया करें जहां सब की दृष्टि पड़ सके। विशेष समय पर पत्र-पत्रिकाएं प्रकट करने के लिए प्रोत्साहन देते रहें। शिक्षकों को चाहिए कि मनोरंजन के लिए बालकों को प्रोत्साहन देते रहें। मनोरंजन, चित्रकला, संगीत कथनोपकथन के द्वारा कराना अति आवश्यक है। इस से आत्म-प्रकाशन का अभ्यास बढ़ता है। विद्यार्थियों का जीवन शुष्क वा नीरस नहीं होना चाहिए। सरस जीवन से विद्यार्थी शारीरिक स्वास्थ्य और बल के विकास में उन्नति करते हैं।

प्रश्न १४—धर्मनीति की परीक्षा कैसे हो ?

उत्तर:—उपकरण = किसी काम को करने लिए काम आने वाले साधन—

मितव्ययिता = जितना चाहिए उतना व्यय करने का अभ्यास बनाना, न अधिक न कम, भोजन में झूठ न छोड़ना।

शुश्रूषा = किसी बात को ध्यान से सुनकर काम करने के लिए तत्काल ग्रहण करना, क्या जी ? हैं जी ? इत्यादि न करना।

द्वन्द्व सहिष्णुता = सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, कटु-वचन इनको सहन करना और कार्य में रुचि से तत्पर रहना।

विनय = किसी बात को सीखने वा ग्रहण करने की इच्छा से नम्र होना।

शिष्टता = उत्तम मनुष्यों जैसा आचरण प्रकट करना जिस से कि मनुष्य में सीधापन सुघड़ता प्रतीत होती है, उचित वर्ताव प्रकट होता है ।

प्रेम से रहना = किसी को चिढ़ाना नहीं, किसी के मन को न दुखाना ।

व्यवस्था = वस्तुओं या कार्यों का ऐसा ढङ्ग कि वे वस्तु या कार्य करने में बाधा न डालें।

अस्तेय = स्तेय का अर्थ है 'चोरी' किसी बात का छिपा रहना, छिपने का अभिप्राय है कि उसके कारण और परिणाम का ज्ञान न होना। इस लिये किसी बात के कारण और परिणाम के ज्ञान करने को अस्तेय में लिया है। कारण के द्वारा परिणाम तक कैसे पहुँचा जाता है मनुष्य को इस बात की अपने या दूसरों के अनुभव से सूझ होना इस का नाम स्फुरण है। इसी से प्राप्तव्य वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। इस लिये इसे अस्तेय में रखा गया है। जब तक प्राप्ति नहीं होती तब तक वह अज्ञान भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ पड़ा रहता है।

किसी कार्य वा रचना को प्रकट करने के लिये उसकी प्रक्रिया साफ २ और बुद्धिगम्य होनी चाहिये। इसके लिए स्पष्टतः कहा गया है और छोटी से

छोटी रीति से वस्तु को सिद्ध करने के लिए कलामय रचना का स्वीकार करना कहा गया है।

अपरिग्रह = इकट्ठा करके न रखना। यह तभी सिद्ध होता है जब कि वह मनुष्य जिसके पास ज्ञान, धन व शक्ति का संचय हो गया है वह दूसरों को भी ज्ञान, धन और शक्ति से युक्त करने का संकेत और प्रयत्न करे, अर्थात् उसके चित्त में नें समानता का भाव प्रगट हो, और इस को पूर्ण करने के लिए दूसरों को अपने पास से कुछ न कुछ दिया करे। इस लिये दूसरों की सहायता और समानता का अनुभव अपरिग्रह में रखा गया है।

धर्मनीति की परीक्षा प्रणाली का मासिक परिणाम पत्रक

नाम .... मास

१	२	३	४	५
शौच	सन्तोष	तप	स्वाध्याय	ईश्वर प्रणिधान
स्वच्छता शरीर वस्त्र स्थान उपकरण।	मितव्ययिता लोभ न करना उचित से अधिक की अनिच्छा।	शुश्रूषा, सेवा रुचिकर स्वास्थ्यप्रद आहार निर्माण द्वन्द्व सहिष्णुता।	पढ़ना, याद करना, करने का काम न भूलना।	काम पूरा करना आज्ञा-पालन विनय शिष्टता।

६	अहिंसा	किसी की वस्तु न बिगाड़ना, किसी से न लड़ना, प्रेम से रहना ।
७	सत्य	छल कपट न करना, सच बोलना, यथार्थता, साधनों को ठीक स्थान पर रखना, व्यवस्था ।
८	अस्तेय	घटना का कारण— स्फुरणा (सूझ), स्पष्टता, कलामय रचना ।
९	ब्रह्मचर्य	संयमी, तेजस्वी, प्रसन्न, सच्चरित्र ।
१०	अपरिग्रह	दूसरों की सहायता, समानता का अनुभव ।

प्रश्न १५—राष्ट्र को आदर्श पर पहुँचाने के लिए सामयिक कर्त्तव्य।

उत्तरः—सिक्के के चलन से वर्त्तमान अर्थशास्त्र को लेकर, इस समय संपूर्ण विश्व में विभिन्न समस्यायें हैं जिनका सुलझना तब तक सम्भव नहीं है जब तक सिक्के का चलन बन्द नहीं होता और उसके आधार पर चलते हुए अर्थशास्त्र को नहीं बदला जाता। अर्थशास्त्र में सिक्के का विचार इसीलिए किया जाता है क्योंकि द्रव्यों के विनिमय का माध्यम सिक्का चलाया गया है। द्रव्यों के विनिमय से लोगों के श्रम का विनिमय नहीं होता। और लोग राष्ट्रिय भावना से उन्नति नहीं कर पाते, प्रत्युत व्यक्तिगत स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए उद्यम करते हैं। और रात दिन इसी सिक्के के संग्रह की चिन्ता में लगे रहते हैं। जितने भी राष्ट्रिय कार्य हो रहे हैं वे सब कार्य प्रायः करके राष्ट्र को वास्तविक उन्नति का साधन नहीं हैं बल्कि अच्छे २ पढ़े लिखे विद्वानों के भी कार्य के करने, वा राष्ट्र हितदिखाने के झूठे मार्ग हैं और उनकी दृष्टि अधिक से अधिक धन खींचने की ओर लगी रहती है। इस प्रकार शासन विभाग के संपूर्ण कार्यों में असत्य और बाह्य दिखावा बढ़ता जा रहा है। यदि किसी को दोषपूर्ण कहला कर अलग किया जाता है तो उसके स्थान में आने

वाले व्यक्ति भी पहली चलती आ रही चाल का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार राष्ट्र का व्यय हो रहा है, परन्तु उससे राष्ट्र की उन्नति नहीं, अवनति हो रही है, जैसे लकड़ी के अन्दर लगती हुई दीमक लकड़ी को खोखला और निस्सार कर देती है। ऊपर से देखने में लकड़ी बड़ी सुन्दर और उपयोगी जान पड़ती है परन्तु वह अन्दर से खाई हुई, अत्यन्त निस्सार लकड़ी किसी भी काम की नहीं रहती। केवल इतना ही कि उसको जलाकर राख कर दिया जाए।

दूसरा दोष सिक्के के चलन का यह है कि इससे द्रव्यों की उत्पत्ति में लगे हुए श्रम का माप नहीं होता। श्रम से श्रम का माप होता है, सिक्के से श्रम का माप नहीं। यदि राष्ट्र की वर्त्तमान व्यवस्था में उत्पादकों के हाथ में बाजार दे दिया जाए और उपभोक्ताओं के हाथ से बाजार निकाल दिया जाए तो दरिद्रों की दरिद्रता को दूर करने के लिए कुछ सहायता हो सकती है। क्योंकि अधिकतर दरिद्र मनुष्य ही वस्तुओं के उत्पादन में श्रम कर रहे हैं। श्रमियों को उनके श्रम के बदले में जो कुछ मिलता है उससे वे संन्तुष्ट नहीं होंगे, और साथ ही अपनी प्राप्ति का सद्व्यय करना भी नहीं जानते। जो कुछ उनको प्राप्त होता है उसका वे सद्व्यय करें, यह उनको दी ग शिक्षा के ऊपर निर्भर है। उत्पादकों के हाथ में बाजार जाने से उनकी आय में वृद्धि हो जायगी। देश के

अन्दर उत्पादन के जितने भी विभाग हैं उनके अन्दर सभी मनुष्यों को विभक्त होना चाहिए। और इस प्रकार मनुष्यों के विभाग जिस व्यक्ति को बाजार में विनिमय करने का अधिकार दें, वही अपने विभाग का प्रतिनिधि होकर विनिमय करे। इस प्रकार विनिमय करके जो भी प्राप्ति करें वह उसकी व्यक्तिगत न होकर उस विभाग की आय समझी जाए और वस्तुओं का मूल्य विभाग के प्रतिनिधियों की सभा नियुक्त करे। ऐसा करने से राष्ट्र के अन्दर सम्पत्ति का उचित वितरण होगा और दरिद्रता बहुत अंशों में दूर होकर लोग अपने श्रमका प्रतिफल प्राप्त करके संतुष्ट हो सकेंगे। यही श्रमियों के विभाग, राष्ट्र की सामूहिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अपने ऊपर कर देने की योजना करेंगे। इन विभागों के प्रतिनिधि जो शासन विभाग में रहेंगे वे इन विभागों को सुझाव देंगे कि अमुक २ कार्यों को करने के लिए धन का संग्रह होना चाहिए। ये सामूहिक कार्य उदाहरण के लिए लम्बी सड़कों का निर्माण, रेलवे-गाड़ियां और इंजिन, मोटर, विमान, बांध, नहर आदि की योजना के लिए विभागों से ही धन एकत्र होगा। इस प्रकार राष्ट्रिय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए राष्ट्र के विभाग स्वयं स्वेच्छा से धन एकत्र करके कार्यों को चालू करेंगे और अपने ऊपर किसी प्रकार का बोझ अनुभव नहीं करेंगे।

इस प्रकार के प्रबन्ध में व्यक्तिगत संपत्ति पर लोगों का अधिकार नहीं रहने से अनेक प्रकार की मुकदमेबाजी की उद्विग्नतायें नहीं रहेंगी। तथा लोगों का जीवन किसी अंश में सुख-शान्तिमय तथा बाह्य दिखावे से अलग सचाई की तरफ ढलेगा। राष्ट्र के व्यक्ति विदेशों से व्यापार सीधा न करके, शासन विभाग के अन्दर व्यापार विभाग के अधिकारी विदेशों से व्यापार करके, देश की अनेक उन आवश्यकताओं को पूरा करेंगे—जिन आवश्यकताओं को, अपना राष्ट्र, पूरा करने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार की योजना के अनुसार यदि हमारे राष्ट्र का संचालन-बल कार्य करे तो समुचित पथ पर चलते हुए हम किसी समय इस आदर्श राष्ट्र व्यवस्था पर पहुंच जायेंगे जिसका पूर्व निर्देश किया जा चुका है।

प्रश्न १६—शिक्षा का प्रसार

उत्तर:—शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक है कि वर्तमान समय में एक अखिल भारतीय विश्व-विद्यालय की स्थापना हो। जिसके द्वारा सभी विषयों और का शिक्षण पत्र-व्यवहार पद्धति के द्वारा चलाया जाये। इससे लाभ यह होगा कि बहुत से विद्यार्थी जो वर्तमान समय में अध्ययन का बोझ

नहीं सम्भाल सकते, वे अपनी सुविधा के अनुसार विषयों की तैयारी करते हुए सफल हो सकते हैं। कितने ही विद्यार्थी अध्ययन काल में वा परीक्षाकाल में रोगी हो जाने के कारण या अन्य किसी प्रकार के कार्य की बाधा उपस्थित होने के कारण परीक्षा में सम्मलित होने से वंचित रह जाते हैं। वे भी अपनी सुविधानुसार तैयारी करते हुए इस पद्धति से पूर्ण लाभवान हो सकते हैं। इस प्रकार जो शिक्षण विश्व-विद्यालयों में अभी तक दिया जा रहा है उस शिक्षण में पूर्वोक्त बाधायें उपस्थित होने पर विद्यार्थियों का शुल्क का अनुचित बोझ अनेक समय विद्यार्थियों पर पड़ता है। वह बोझ भी इस पद्धति से दूर हो जाता है। बहुत से विद्यार्थी अवसर न मिलने पर विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट नहीं हो सकते, परन्तु इस पद्धति से पूर्ण लाभ उठा सकते हैं। विद्यार्थियों का विश्वविद्यालयों के साथ जो छात्रावासों की रीति चली हुई है, उसके व्यय का बोझ भी विद्यार्थियों पर नहीं पड़ेगा।

समय समय पर विद्यार्थी अपनी फीस नहीं भर सकते और विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने से वञ्चित रह जाते हैं। इस पद्धति से भिन्न-भिन्न रुचि वाले विद्यार्थी अपने साथियों का ध्यान न करके अनेक प्रकार से काल यापन करते हैं। जिससे साथी विद्या-

र्थियों को बड़ी असुविधा रहती है। वह सब असुविधा पूर्वोक्त शिक्षण पद्धति के अनुसार दूर हो जाती है। बहुत से माता-पिता अपने कार्य में बालकों की सहायता लेने के विचार से विश्वविद्यालयों में भेज ही नहीं सकते। जिस समय उनके बालक अपनी सुविधा के अनुसार शिक्षण की तैयारी कर सकते है वह समय विश्वविद्यालय के कार्य-क्रम से सम्बद्ध नहीं होता। परन्तु इस शिक्षण पद्धति के अनुसार वे भी अपनी सुविधा के अनुसार अभ्यास क्रम की तैयारी कर सकते हैं। इस प्रकार हम समझते हैं कि पत्रव्यवहार शिक्षण पद्धति का बड़ा महत्त्व है। शिक्षा का प्रसार शीघ्र से शीघ्र और अधिक से अधिक छात्रों में तथा अल्प व्यय में जितना अधिक इस पद्धति से हो सकता है वह अन्य पद्धतियों से नहीं। इस शिक्षण पद्धति में एक ही स्थान में सम्पूर्ण शिक्षाओं को केन्द्रित नहीं किया जाना चाहिये। जिस जिस कालिज को जिस जिस स्थान में खोलने की सुविधा हो, उसी उसी स्थान में उस उस विद्या का महाविद्यालय स्थापित हो। इस प्रकार सब भाषाओं का (देशी और विदेशी) तथा अन्य औद्योगिक शिक्षण और तत्त्वज्ञान का शिक्षण, सभी पत्रव्यवहार शिक्षण पद्धति से बड़ी उत्तमता से चल सकेगा।

प्रश्न १७—पुस्तकों और समाचार-पत्रों का वितरण

उत्तरः—हम पहले कह चुके हैं कि सम्पूर्ण राष्ट्र शिक्षणालयों के जाल में बंटा हुआ होना चाहिये। प्रत्येक शिक्षणालय से सम्बद्ध एक एक वाचनालय और पुस्तकालय होना चाहिये। जितने वाचनालय हों वहां पर, वहां के निवासियों की योग्यता और अभिरुचि के अनुसार पत्र-पत्रिकाओं का वितरण होना चाहिये। किस किस प्रकार की कितनी कितनी मात्रा में और कहां कहां पर पत्र-पत्रिकाओं की आवश्यकता है उसी के अनुसार शिक्षा प्रसार मंत्री पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करवाकर वितरण करने की योजना करे, और प्रत्येक पुस्तकालय में आवश्यक पुस्तकों को प्रकाशित करवाकर शिक्षा मन्त्री ही वितरण करने की व्यवस्था करे। इस प्रकार सामूहिक संग्रहों से लाभ उठाते हुये राष्ट्र के व्यक्ति, व्यक्तिगत संग्रह करने की वृत्ति से अलग रहते हुये पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकते हैं। प्रकाशन का इसी प्रकार से नियन्त्रण रहते हुए अनेक प्रकार का अनुचित साहित्य, जो कभी प्रकाशित होता रहता है, वह प्रकाशित नहीं हो सकेगा और राष्ट्र के प्रकाशन कार्य पर व्यर्थ का बोझ नहीं पड़ेगा।

प्रश्न १८—यातायात

उत्तर—राष्ट्र की इस योजना में यातायात का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। बिना सिक्के के चलन वाले राष्ट्र में यातायात कैसे हो सकेगा इस की कल्पना लोगों को आसानी से नहीं हो सकेगी। यह हो सकता है कि प्रारम्भ में इस में कुछ कठिनता का अनुभव हो, परन्तु लोगों के शिक्षित होने पर वैसी अव्यवस्था सम्भव नहीं है जैसी प्रतीत होती है। आजकल के वैज्ञानिक युग में रेल गाड़ियों के सम्बन्ध में सब से पहले हम निर्देश करते हैं कि रेलवे लाइन डबल होनी चाहिये। एक मार्ग जाने का रहे और एक आने का। गाड़ियां सब बिजली से चलने वाली होनी चाहियें। यात्रियों के बैठने की जगह सब एक जैसी हों। ऊंचे नीचे और बीच के दर्जों का भेद भाव न हो। अधिक से अधिक आधे आधे घंटे के बाद गाड़ियां चलती रहें। डबल लाइन होने से गाड़ियों के भिड़ने की सम्भावना नहीं होगी। पहले हमने मानव जनता को चार भागों में विभक्त किया है, शिक्षक, रक्षक, पोषक और सहायक। इन्हीं नामों से गाड़ियों के डब्बों का विभाग रहे। जो जिस विभाग का व्यक्ति हो वह उसी डब्बे में बैठे। समान कार्य करने वाले व्यक्ति साथ-साथ बैठने में ठीक रहते हैं। बैठने के जितने स्थान होंगे उन स्थानों पर नम्बर

लगे हुये हों। डब्बों के बाहर लिखा हुआ हो कि कितने नम्बर से कितने नम्बर तक उस डब्बे में स्थान हैं। उसी के अनुसार यात्रियों के टिकटों पर उनका वर्ग और सीट का नम्बर लिखा हो। प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अपने वर्ग के चिह्न को बताकर स्टेशन पर टिकट ले सके। उसका टिकट नम्बर जिस डब्बे में हो वहीं जाकर उसको बैठना होगा। यात्री को अपना सामान—सामान रखने के डब्बों में, अपने सामान पर अपने पते का टिकट लगवा कर रेलवे कर्मचारी के सुपुर्द करना होगा। वह सामान यात्री को उसके निर्दिष्ट स्थान पर जहां उस को पहुंचना है रेलवे के आधीन तांगा आदि सवारी पर सुरक्षित पहुंचा दिया जायगा। अपरिग्रह राष्ट्र में राष्ट्रिय भावना से पारस्परिक सेवा कार्य होगा और चोरी आदि होने की चिन्ता का भय नहीं होगा।

निर्मित भोग्य सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने के लिये राष्ट्रहित की दृष्टि से विद्युत संचालित माल गाड़ियां पहुँचा देंगी। बहुत लम्बी-लम्बी सड़कें उन सुदूरवर्त्ती ग्रामों के बीच में से जायेंगी जिन सड़कों से ग्राम बहुत अधिक दूर नहीं रहेंगे। इन सड़कों पर रेलवे मोटर या विद्युत संचालित ट्राम चलेंगी। इन का सम्बन्ध रेलवे स्टेशनों से होगा। इस प्रकार उस राष्ट्र में जो अपरिग्रह राष्ट्र है, यातायात की सुचारु व्यवस्था

होग विद्युत संचालित गाड़ियों में और ट्रामों में अन्दर ही यदि विद्युत उत्पादन यन्त्र लगा दिया जाय और उस से गाड़ियां चलें तो अलग से ऊपर तार लगाकर चलाने की व्यवस्था का बहुत सा श्रम बच सकेगा।

खानों से उत्पन्न हुआ कोयला राष्ट्रिय औद्योगिक कलाकौशल और शिल्पकारियों में नये-नये आविष्कार करने के साधनों के लिये प्रयुक्त होगा। इस से रसायन शास्त्र और भौतिकी तथा सूक्ष्म प्रकृति के अन्वेषण कार्यों में विशेष सुविधा होगी।

यातायात के विचार के साथ लगता हुआ डाक-तार विभाग है। राष्ट्रिय कार्यों के संचालन के लिये इस की बड़ी आवश्यकता है। अपरिग्रह राष्ट्र में जिस में सिक्के का चलन नहीं है, डाक तार विभाग के पत्र-पत्रिका किसी राष्ट्रिय चिह्न विशेष के साथ युक्त हुए हुए उसी प्रकार से चलते रहेंगे जिस प्रकार से अब बिना टिकट लगे डाक-तार विभाग के चलते रहते हैं। परन्तु यह आवश्यक होगा कि राष्ट्र में जितने विभाग चल रहे हैं उन सब के पत्र पत्रिकाओं पर उस उस विभाग का द्योतक ऐसा चिह्न, जिस से उस उस विभाग के पत्र पत्रिका की पहचान हो सके, उस पर छपा हुआ होगा, इस से यह लाभ होगा कि बिना सिक्के के चलन के अपरिग्रह राष्ट्र में पत्र-

पत्रिकाओं के विभागानुसार वितरण में सुविधा होगी। प्र... व्यक्तियों में व्यर्थ का पत्रव्यवहार बिल्कुल बन्द होजायगा। यदि किसी व्यक्ति को कभी कोई विशेष पत्र लिखने की आवश्यकता हुई तो उसे अपने विभागाध्यक्ष से पत्र मिल सकेगा।

सुधारक

यह बात किसी भी शुद्ध-हृदय राष्ट्रवासी से छिपी हुई नहीं है कि वर्तमान काल में हमारे राष्ट्र और समाज में साम्प्रदायिक, आर्थिक और शारीरिक कुरीतियाँ भयंकर रूप से व्याप्त है। ब्रह्मचर्य और स्वच्छ जीवन पर विलासिता और कामुकता छाई हुई है। इन सब कुरीतियों का खण्डन करने और शुद्ध, सरल सन्मार्ग का प्रकाश वाला 'सुधारक' मासिक पत्र राष्ट्र की बड़ी सेवा कर रहा है। यह पत्र भारत के प्रायः सभी राज्यों में नागरिक अथवा ग्रामीणों द्वारा चाव से पढ़ा जाता है। युवक और युवतियों [विशेषतया छात्र और छात्राओं] के लिए यह अमूल्य भेंट दी जा रही है।

इसका मूल्य केवल २) रुपये [लागत मात्र से भी कम] है। आप आगे अवसर हाथ से न जाने दीजिये, तुरन्त २) मनीआर्डर नीचे लिखे पते पर भेज कर स्वयं ग्राहक बनें तथा अन्यों को ग्राहक बनने के लिये प्रेरित करें।

व्यवस्थापक—सुधारक
गुरुकुल झज्जर (जि० रोहतक)